लोक साहित्य

सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रतिमान

(Folk Literature: Cultural and Social Paradigms)

अभिमन्यु सिंह

लोक-साहित्य : सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रतिमान

लोक-साहित्य : सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रतिमान

(Folk Literature: Cultural and Social Paradigms)

अभिमन्यु सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5589-2

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

साधारण जनता से संबंधित साहित्य को सामान्यत: लोक-साहित्य कहते हैं। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है। अत: जनसाहित्य (लोक-साहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोक-साहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है, जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अत: यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोक-साहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित रूप में सामने आए हैं, किंतु अब भी मौखिक लोक-साहित्य बहुत बड़ी मात्रा में असंगृहीत है।

लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक-कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक-मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है। लोक-साहित्य में निहित सौंदर्य का मूल्यांकन सर्वथा अनुभूतिजन्य है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**लोक-साहित्य**	**1**
	परिचय	2
	विशिष्टताएँ	4
	लोकाचार के लिए रचित साहित्य	6
	जातीय लोक-साहित्य	8
	लोककथा	22
	लोक-साहित्य : परम्परा और प्रयोग	38
2.	**लोक-साहित्य के विविध रूप**	**44**
3.	**लोक-साहित्य एवं लोकगीत**	**56**
	लोकगीत	59
	राजस्थानी लोकगीत	68
	ब्रज के लोकगीत	71
	बुंदेलखंडी लोकगीत	74
	बघेली लोकगीत	75
	निमाड़ी लोकगीत	75
	मालवी लोकगीत	76

4. लोकगाथा **81**
भारतीय लोकगाथाएँ 82
5. लोककथा **89**
लोककथाओं की प्राचीनता 89
हिन्दी लोककथाएँ 90
धार्मिक लोककथाएँ 93
6. लोकनाट्य **96**
भारतीय लोकनाट्य 97
इतिहास एवं उद्‌भव 97
कुछ प्रसिद्ध लोकनाट्य 99
7. लोक-संस्कृति **101**
लोक संस्कृति की आत्मा 105
लोक संस्कृति और नवगीत 116
संस्कृति की अवधारणा 124
संस्कृति और सभ्यता 126
संस्कृति और विरासत 127
मानव जीवन में संस्कृति का महत्त्व 133
सभ्यता, संस्कृति, समाज, देश-काल 134
8. लोक-साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना **138**
पण्डित लखमी चन्द 141
पण्डित माँगेराम 141
9. लोक-साहित्य : साहित्य के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य **144**
10. लोक-साहित्य के अध्ययन की परंपरा एवं चुनौतियां **147**

1

लोक-साहित्य

लोक सहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जनजीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।" (लोक-साहित्य विज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ-03)

साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोक-साहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है। अतः जनसाहित्य (लोक-साहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोक-साहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है, जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अतः यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोक-साहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित

रूप में सामने आए हैं किंतु अब भी मौखिक लोक-साहित्य बहुत बड़ी मात्रा में असंगृहीत है।

लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक-कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक-मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है। लोक-साहित्य में निहित सौंदर्य का मूल्यांकन सर्वथा अनुभूतिजन्य है।

परिचय

आदिकाल से श्रुति एवं स्मृति के सहारे जीवित रहनेवाले लोक-साहित्य के कुछ विशेष सिद्धांत हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से वे रचनाएँ ही स्वीकार की जाती हैं अथवा जीवन पाती हैं, जो अनेक कंठों से अनेक रूपों में बन बिगड़कर एक सर्वमान्य रूप धारण कर लेती हैं। यह रचनाक्रम आदिकाल से अबतक जारी है। ऐसी बहुत सी साहित्यक सामग्री आज भी प्रचलित है, जो अभी एकरूपता नहीं ग्रहण कर पाई हैं। परंपरागत एवं सामूहिक प्रतिभाओं से निर्मित होने के कारण विद्वानों ने लोक-साहित्य को 'अपौरुषेय' की संज्ञा दी है।

निश्चय ही परंपरागत लोक-साहित्य किसी एक व्यक्ति की रचना का परिणाम नहीं है। वैसे तो इसके कई प्रमाण दिए जा सकते हैं कि एक ही गीत, कथा या कहावत एक स्थल पर जिस रूप में होता है दूसरे स्थल पर पहुँचते-पहुँचते उसका वह रूप बदल जाता है, किंतु एक अच्छा प्रमाण यह होगा कि सैकड़ों वर्ष से गाए जानेवाले लोक महाकाव्य आल्ह-खंड को आज तक एकरूपता नहीं प्राप्त हो सकी। इस कार्य में लोकप्रवृत्ति किसी प्रतिबंध को स्वीकार ही नहीं करती। स्फुट गीतों में तो केवल पंक्तियाँ ही इधर-उधर होती हैं किंतु प्रबंध गीतों (गाथाओं) एवं कथाओं में घटनाएँ भी बदलती रहती हैं। यह सब होते हुए भी उन प्रबंधों एवं कथाओं के परिणामों में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं स्वीकार किया जाता। परिणाम एवं लोकप्रचलित सत्य तथा तथ्य को आधार मानकर घटनाचक्र मनमाने ढंग से चलाए जाते हैं। रामकथा को ही लें। "नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सत कोटि अपारा" वाली बात शत प्रतिशत सत्य है। रामकथा संबंधी जितनी विविधताएँ लोक-साहित्य में प्रचलित हैं, यदि उन सब को एकत्र किया जाए तो यह विचित्र प्रकार का 'लोक रामायण' ग्रंथ तैयार होगा जो अब तक के सभी रामाख्यानों से भिन्न अस्तित्त्व का होगा। घटनाचक्रों को देखते हुए कभी-कभी तो उनकी संगति बैठाना भी कठिन हो जाएगा।

उदाहरणस्वरूप लोकगीतों में भी रामजन्म के कई कारण हैं किंतु एक बहुत ही साधारण कारण यह है कि एक बार जब महाराज दशरथ प्रातः काल सरयू में स्नान करने जा रहे थे तो उनका दर्शन सवेरे ही गली में झाड़ू देनेवाली हेलिन (भंगिन) को हो गया। उसने ताना मारा कि आज प्रातः काल ही संतानहीन व्यक्ति का दर्शन हुआ, पता नहीं दिन कैसे बीतेगा। दशरथ को यह बात लग गई और तभी वे रानी समेत पुत्र प्राप्ति के लिए वन में तप करने चले गए। इस प्रकार कारण दूसरा दिखाते हुए भी लोक कथाकार दशरथ को फिर तपस्या वाले स्थल पर ले आता है जहाँ कथा अन्य रामायणों की कथा से मिल जाती हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं, जो परिणाम में तो नहीं किंतु घटनाओं के मामले में एक नहीं हैं। ऐसे परिवर्तनों एवं संशोधनों को लोक-साहित्य बहुत ही आसानी से स्वीकार कर लेता है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अनेक रूपों में होते हुए भी अनेकता में एकता की भावना से युक्त होता है। भाषा के कलेवर को बदलकर भी भावपक्ष में कोई परिवर्तन नहीं दीखता। एक ही रचना जो किसी स्थल पर वहाँ की बोली में पाई जाती है, वही बहुत दूर दूसरी बोली में भी मिल जाती है। स्फुट गीतों के भावों एवं प्रबंधों की कथाओं की यह यात्रा कभी-कभी तो इतनी लंबी होती है कि आश्चर्य होता है। क्षेत्रों एवं देशों की सीमा मनुष्य भले ही निर्धारित कर दे पर लोक-साहित्य इसे स्वीकार नहीं करता। ऐसा शायद इसलिए संभव हुआ होगा कि यात्राकाल में प्राचीन मानव जब कभी दूर गया होगा तो अपना साहित्य साथ लेता गया होगा और गंतव्य स्थान पर उसकी छाप छोड़ आया होगा जिसे वहाँ के लोगों ने स्वीकार कर लिया होगा। यह क्रम आज भी जारी है। जब कोई ग्राम्या नैहर से ससुराल जाती है तो स्वभावतः वह नैहर की उन लोकरचनाओं को अपने साथ लेती जाती हैं, जो उसे स्मरण रहती हैं। यदि उसका विवाह मायके की बोलीवाले क्षेत्र में हुआ तब तो कोई बात नहीं, किंतु अन्य बोली के क्षेत्र में विवाह होने पर वह नैहर के गीतों को स्थानीय बोली के लहजों में ढाल लेती है। उस इस कार्य में ससुराल की ग्राम्याओं द्वारा भी सहायता मिलती है। इस प्रकार बनाव बिगाड़ बराबर चलते रहते हैं।

लोकगायक एवं गायिकाओं का यह स्वभाव बहुत दिनों से चला आ रहा है कि यदि उन्हें किसी कवि की रचना पसंद आ गई तो उसे तोड़ मरोड़कर अपनी बोली के अनुकूल बना लेती हैं। ऐसा करते समय कभी कवि का नाम निकाल दिया जाता है और कभी रहने दिया जाता है। प्रमाण के लिए आज भी

ऐसे लोकगीत सुने जा सकते हैं, जो सूर, कबीर, तुलसी एवं मीरा के प्रकाशित ग्रंथों में जिस तरह मिलेंगे लोकगायकों के कंठ पर उनका वह रूप नहीं होगा। कुछ लोकगीतों में तो अनायास ही उनके नाम डाल दिए गए हैं। यह प्रवृत्ति हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य में भी पाई जाती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ऐसे भजन तथा गीत लोककवियों द्वारा स्वयं बना लिए गए हैं और उनकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिए उच्च एवं बहुश्रुत कवियों के नाम जोड़ दिए गए ताकि अधिकांश लोग ऐसे गीतों को याद कर लें। पर यह बात है नहीं। लोककवि इसी स्थल पर तो उदार होता है। ऐसे बहुत से भजन लोकजीवन में न जाने कब से चले आ रहे हैं जिनके रचनाकारों के बारे में पता ही नहीं चलता। सत्य तो यह है कि इस प्रकार के भजनों की संख्या नामयुक्त भजनों की संख्या से कहीं अधिक है और वे सरसता में भी नामधारी भजनों से घटकर नहीं हैं। लोकगायकों की एक प्रवृत्ति यह भी होती है कि वे स्थानीय घटनाओं को तुरंत भावबद्ध कर लेते हैं, जैसा 1934 के बिहार भूकंप के समय हुआ था। बहुत दिनों से चली आ रही आंचलिक कथात्मक सामग्रियाँ इसी प्रवृत्ति की देन हैं। घटनाप्रधान प्रबंध एवं लोककथाएँ इस प्रवृत्ति से जन्म तो पा जाती हैं किंतु दीर्घ जीवन मात्र उनको मिलता है, जो जनमानस को अधिक कुशलता के साथ छूती हैं।

विशिष्टताएँ

लोक-साहित्य की भाषा शिष्ट और साहित्यिक भाषा न होकर साधारण जन की भाषा है और उसकी वर्ण्य-वस्तु लोक-जीवन में गृहीत चरित्रों, भावों और प्रभावों तक सीमित है। यह तो लोक-साहित्य की पहली मर्यादा हुई। इसकी दूसरी मर्यादा है, उसकी रचना में व्यक्ति का नहीं बल्कि समूचे समाज का समावेत योगदान। यही कारण है कि लोक-साहित्य पर व्यक्ति की छाप न होकर समग्र व्यक्ति-लोक की छाप होती है। शिल्प-विधान की बात करते समय हम जब इन दो मुख्य मर्यादाओं को सामने रखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शिल्प-विधान के लिए कोई अभ्यास या कौशल परिलक्षित नहीं हो सकता, क्योंकि शिल्प का विधान यदि हमें दिखाता है तो वह सामाजिक समरसता की विवशता के कारण अपने आप उद्‌भूत रूप में ही। वैसे प्रचलित अर्थ में शिल्प-विधान की बात यहाँ नहीं उठायी जा सकती है। लोग समझते यही हैं कि शिल्प के पीछे एक पूर्व-चिन्तित व्यापार अवश्य सन्निहित होता है और चूँकि

लोक-साहित्य में ऐसा कोई व्यापार होने की सम्भावना नहीं है इसलिए उसके शिल्प-विधान की बात नहीं उठती। पर तात्त्विक दृष्टि से देखने पर शिल्प-विधान का अर्थ है अभिव्यक्ति को अभिव्यज्य से जोड़ना।

लोक-साहित्य में शिल्प-विधान अपने उत्कर्ष पर है, क्योंकि वह, सबसे अधिक यहीं पर निरभिमान, निर्व्याज और निसर्गोद्भूत है।

प्रकार

लोक-साहित्य के मुख्यत: चार भेद कहे जाते हैं, लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा और लोक-नाट्य। लोक-गाथा और लोक-कथा में भेद इतना ही है कि लोक-गाथा एक लम्बे आख्यान-गीत के रूप में चलती है और इसमें प्रबन्ध-योजना गाथा-प्रधान न होकर रस-प्रधान होती है, जबकि लोक-कथा गद्यात्मक होने के साथ-साथ कथा प्रधान या दूसरे शब्दों में घटना-प्रधान हुआ करती है। लोक-नाट्य जनसुलभ रंगमंच को दृष्टि में रखकर आंगिक और वाचिक अभिनय पर आधृत स्वांग या लीला तक सीमित रहता है। इसमें सामायिकता का विशेष ध्यान रहने के कारण स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता नहीं होती है। लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं में कथा-शिल्प ही प्रमुख रहता है, केवल लोक-गान ऐसा प्रकार है, जिसमें अपने समग्र रूप में शिल्प-विधान विकसित हो सकता है, इन चारों प्रकार के रूपों में शिल्प-विधान के ये अंग समान रूप से अपेक्षित हैं।

प्रवृत्तियाँ

लोक-साहित्य की जो अपनी कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ हैं वे उतनी ही प्राचीन हैं जितना प्राचीन यह साहित्य है। इन प्रवृत्तियों की पुष्टि को ही विशाल एवं विभिन्न रचना कराने का श्रेय है। सुविधा के लिए इन्हें निम्नलिखित प्रकारों में बाँटा जा सकता है–

देवी-देवताओं एवं प्राकृतिक उपलब्धियों पर आधारित साहित्य

आदिकालीन मानव के प्रकृतिप्रदत्त विभिन्न कल्याणकारी परिणामों से प्रभावित होने के कारण उनपर जो विश्वास आरोपि किया इससे संबद्ध साहित्य इसके अंतर्गत आता है। इसमें भक्ति एवं भय दोनों प्रकार की भावनाएँ सन्निहित होती हैं। देवी-देवताओं की पूजा के लिए रचित तथा

अंधविश्वासों से संबद्ध साहित्य (टोना, टोटका, मंत्र एवं जादू इत्यादि) इसी के अंतर्गत है। इनमें कुछ विश्वासों को आंचलिक और कुछ को व्यापक महत्व दिया जाता है। स्थानीय उपलब्धियों पर स्थानीय और व्यापक पर व्यापक रचनाएँ मिलती हैं। धरती, आकाश, कुँआ, तालाब, नदी, नाला, डीह, ड्योहार, मरी मसान, वृक्ष, फसल, पौधा, पशु, दैत्य दानव देवी देवता, कुलदेवता, ब्रह्म एवं तीर्थ आदि पर जो मंत्र या गीत प्रचलित हैं वे इसी के अंग हैं। जब भी ग्रामीण कोई शुभ कार्य (जन्म से लेकर मरण तक के सभी संस्कार तथा खेती बारी, फसल की पूजा, गृहनिर्माण, कूपनिर्माण, मंदिर एवं धर्मशाला का निर्माण और परमार्थ संबंधी अन्य कार्य) प्रारंभ करते हैं तो उससे संबद्ध देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जिन गीतों अथवा मंत्रों का प्रयोग होता है वे सब इस साहित्य में आते हैं। रोगों के निदान के लिए भी बजाय ओषधि के गीतों एवं मंत्रों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए शीतला माता के गीतों को लिया जा सकता है। पृथक्-पृथक् देवी-देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् मंत्र, गीत, पूजन एवं भोग आदि की सामग्रियाँ पता नहीं कब से निर्धारित की जा चुकी हैं। किसी को कुछ पसंद होता है परंतु ब्रह्म को इन सब के स्थान पर जनेऊ चाहिए। इन्हीं के अनुसार गीत एवं मंत्र तो बदलते ही हैं, साथ ही पुजारी भी बदलते रहते हैं।

लोकाचार के लिए रचित साहित्य

इसके अंतर्गत आचार-विचार एवं व्यावहारिकता तथा विभिन्न लोकमान्यताओं से संबद्ध साहित्य आता है। आचार-विचार के लिए रचित साहित्य में भावनाओं और मान्यताओं का प्रवेश है, किंतु व्यवहार के लिए रचे गए साहित्य में यह बात कम देखने को मिलती है। व्यवहार की विशेषता लोक-साहित्य में मुख्य रूप से देखने को मिलती है। आपसी व्यवहार की बात तो जाने दें। यहाँ साँप को भी दूध पिलाया जाता है। वृक्ष (बरगद, पीपल) को भी बाबा कहा जाता है और बदली तथा नदियाँ बहन का रूप धारण करती हैं। इसी तरह अनेक अमानवीय तत्त्वों से तथा हिंसक जंतुओं से संबंध जोड़कर सारी सृष्टि को एक रूप में बाँधा गया है। इस संदर्भ में रचे हुए साहित्य का मूल उद्देश्य व्यावहारिकता के आधार पर सरल एवं सुखी जीवन व्यतीत करना है। यही कारण है कि जनजीवन एक रिश्ते में बँधा हुआ है और जातीय भेदभाव, जो भीषण रूप से व्याप्त हैं, उसकी दीवार को तोड़ नहीं सके हैं। दादी-दादा, भाई-बहन आदि के रिश्ते पूरे गाँव में

बिना किसी जातीय भेदभाव के चला करते हैं। विभिन्न अवसरों के लिए प्रचलित लोकाचार भी इसी विधा के अंग हैं।

वैज्ञानिकता पर आधारित साहित्य

इस साहित्य के अंतर्गत ऋतुविद्या, स्वास्थ्यविज्ञान, कृषिविज्ञान, एवं शकुन आदि से संबद्ध साहित्य सामिल है। लोकजीवन में इस प्रकार के साहित्य को आधुनिक वैज्ञानिक युग में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनमें पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित अनुभूमियों, नियमों एवं तत्सम्बंधी उपदेशात्मक बातों का समावेश होता है। यह मान्यताएँ प्रायः परीक्षा की कसौटी पर खरी उतरती हैं, किंतु साथ ही कुछ अपवाद भी हैं। ऋतुविज्ञान के अंतर्गत अतिवृष्टि, अनावृष्टि एवं अल्पवृष्टि के कारणों तथा तज्जन्य क्षतियों और उनसे बचने के उपायों की ओर संकेत किए गए हैं। इस प्रकार के वैज्ञानिक साहित्य के आधार परंपरागत अनुभव ही होते हैं। चूँकि वह अनुभव बहुत पक्के होते हैं इसलिए लोकगीतों की भाँति इनके बनने-बिगड़ने की संभावनाएँ कम हुआ करती हैं। यही दशा कृषिविज्ञान के लिए रचे गए साहित्य की है। इसके अंतर्गत खेती से संबद्ध प्रायः आवश्यक बातें कह दी गई हैं। खेत की जुताई किस तरह हो, किस प्रकार के खेत में किस प्रकार की बुआई की जाए, बीज की मात्रा कितनी हो, सिंचाई कब की जाए, निराई एवं गुड़ाई कब की जाए तथा किस समय फसल की कटाई हो, यह सब बातें तो वैज्ञानिक साहित्य के अंतर्गत आती ही हैं, इनके अतिरिक्त फसल सम्बंधी रोगों तथा उपचारों का भी वर्णन मिलता है। कृषि कार्यों में काम आनेवाले उपकरणों तथा बैलों की पहचान आदि पर भी भारी मात्रा में साहित्य रचना की गई है।

बैलों के अतिरिक्त अन्य पालतू पशु-पक्षियों के बारे में भी प्रचुर संकेत मिलते हैं। बैलों के बाद सार्वजनिक साहित्य घोड़ों की पहचान के संबंध में प्राप्त होता है। चूँकि आधुनिक वैज्ञानिक वाहनों के कारण अब घोड़े कम रखे जाते हैं इसलिए इस प्रकार के साहित्य का धीरे-धीरे अभाव होता जा रहा है। गाँव-गाँव में ट्रैक्टरों के पहुँच जाने से बैलों की पहचान के बारे में लिखे गए साहित्य की भी आगे शायद यही दशा होगी। अन्य पालतू पशुओं में गाय, भैंस एवं कुत्तों की चर्चा आती है, किंतु इन पर नाम मात्र के लिए संकेत किया गया है। पक्षियों में तोता, मैना, कौआ, मुनियाँ, मोर, कोयल तथा कबूतर आदि के बारे में संकेत दिए गए हैं। ग्रामीणों के उपयोग में जितने प्रकार के पशु-पक्षी आते हैं उन सबकी

पहचान एवं उनसे होनेवाले लाभ-हानि के बारे में इस साहित्य के अंतर्गत संकेत प्राप्त होते हैं।

स्वास्थ्य विज्ञान में विभिन्न रोगों के लक्षण और उनसे बचने के उपाय तथा औषधियों की ओर संकेत मिलता है। कौन सा रोग क्यों उत्पन्न होता है तथा किन आचरणों से रोग उत्पन्न नहीं होता या दूर हो जाता है आदि बातें इसे अंतर्गत आती हैं। साथ ही स्वास्थ्यप्रदायिनी दिनचर्या के लिए कुछ आदेश भी दिए गए हैं। जड़-बूटियों की पहचान, उनके उपयोग तथा इससे उत्पन्न लाभ-हानि की चर्चा भी इस विभाग के विषय हैं। इस तरह के संकेत प्रायः आदेश के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं और वे पद्यों में हैं।

यही विधा कृषिविज्ञान एवं शकुनविज्ञान के लिए रचे गए साहित्य में भी अपनाई गई है। शकुनविचार संबंधी साहित्य में मुख्य रूप से यात्रा आरंभ करने के लिए कालक्रमानुसार शुभ लक्षणों को देखते हुए या तो आदेश दिए गए हैं या अपशकुनों के कारण यात्रारंभ के लिए मनाही की गई है। यदि यात्रा बहुत ही आवश्यक हो और दिनों की गणना में उसका समय अनुकूल न पड़ता हो तो उससे बचने के लिए उपाय बताए गए हैं। ऋतुओं, मानव लक्षणों एवं पशु-पक्षियों की विभिन्न हरकतों द्वारा भी शकुन-अपशकुन की जानकारी इस प्रकार के साहित्य के अंतर्गत कराई जाती है। जैसे वर्षा काल में घर नहीं छोड़ना चाहिए, मुंडेरे पर यदि प्रातः काल काग बोले तो उसे किसी प्रिय जन के आगमन की सूचना समझनी चाहिए, इत्यादि।

जातीय लोक-साहित्य

संपूर्ण लोक-साहित्य का एक सर्वमान्य रूप तो होता ही है, किंतु साथ ही विभिन्न जातियों की परंपरागत संस्कृति पर आधारित साहित्य भी होता है। इनमें उन जातियों के निजी देवी-देवता, कुल देवता के आदेश तथा आचार्यों एवं संत महात्माओं द्वारा बताए गए नियम, उपनियम और उनकी वाणी शामिल होती है। विभिन्न जातियों जैसे - नाई, धोबी, अहीर, चमार, कुर्मी, कोयरी, नोनिया, बार, भाट आदि एवं वन्य तथा अन्य जातियों की पृथक्-पृथक् संस्कृति जातीय लोक-साहित्य के अंतर्गत आती है। यदि यह कहा जाए कि कहीं का संपूर्ण लोक-साहित्य वहाँ की विभिन्न जातियों की सामूहिक संस्कृति का प्रतीक होता है और अनुपयुक्त नहीं होगा। जातीय साहित्य को निकाल देने पर लोक-साहित्य का जो रूप बच जाएगा वह उसका सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करेगा।

लोक-साहित्य की रचनास्थली

इस साहित्य की रचनास्थली विशिष्ट साहित्य की रचनास्थली से भिन्न होती है। यह लोक-साहित्य की ही विशेषता है कि उसके किसी भी प्रकार का निर्माण एकांत में नहीं होता। प्राय: वे सभी स्थल उक्त साहित्य के रचना केंद्र होते हैं जहाँ समय-समय पर उसे प्रेमी अथवा आवश्यकताओं से प्रेरित ग्राम्य जन जुटा करते हैं। इसीलिए ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि लोक-साहित्य के अंग का आज जो रूप है वही कल भी था और आगे भी बना रहेगा। यदि हम कहें कि लोक-साहित्य की प्रमुख रचनास्थली चौपाल एवं आँगन है तो बेजा नहीं होगा। चौपालों में प्राय: अवकाश के समय गाँव के लोग एकत्र हो जाते हैं। तरह-तरह की बातें चलती हैं। रीति-रिवाजों की चर्चा, धर्मचर्चा, कथा-कहानियाँ, खेती-बारी की बात तथा लोकगीत आदि समय-समय पर चौपालों को मुखरित करते रहते हैं। वर्तमान काल की स्थानीय प्रमुख घटनाएँ भी कुछ दिनों तक वार्ता के लिए आधार बनी रहती हैं। इन सबके निचोड़ रूप में जो सामग्री जीवन पा जाती है वही कुछ दिनों बाद स्थानीय साहित्य में शामिल हो जाती है। यदि महत्व अधिक हुआ तो ऐसी रचनाओं का प्रचार बढ़ जाता है और वे एक चौपाल से दूसरी में तथा एक गाँव के दूसरे गाँव में जाकर अपना क्षेत्र व्यापक बनाती रहती हैं। इस प्रकार वे रचनाएँ कुछ वर्षों में विस्तृत लोक-साहित्य के भंडार में सम्मिलित हो जाती हैं। यही बात आँगन में रचे गए साहित्य पर लागू होती है जहाँ ग्राम्याएँ समय-समय पर एकत्र होती हैं। इस तरह पुरुषों एवं स्त्रियों का साहित्य जन्म से ही पृथक्-पृथक् होता है। चौपालों एवं आँगनों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ इस साहित्य की विभिन्न विधाएँ निर्मित होती हैं। खेतों में निरवाही अथवा कटिया करते समय, डाँठ के गट्ठर ढोते समय, अन्य सामूहिक मजदूरी करते समय, तीर्थ अथवा मेला यात्रा में, जाड़े में सायंकाल अलावों के पास, पर्वों एवं सांस्कारिक आयोजनों के समय अथवा संक्षेप में यह कहिए कि जब और जहाँ ग्रामीण स्त्री पुरुषों के जुटाव का अवसर आता है तब और तहाँ लोक-साहित्य का निर्माण होता रहता है।

लोक-साहित्य का जीवन

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भूतकाल में रचा गया सभी लोक-साहित्य जीवित है और आज जिनका निर्माण हो रहा है उनका अंत कभी नहीं होगा। सच तो यह है कि इस साहित्य की विधाएँ युगप्रभाव को स्वीकार करके अपना रूप

बराबर बदलती रहती हैं। इधर पचास वर्ष के भीतर रचे गए साहित्य को देखने से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। इस अवधि में गाँवों को जितनी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें अधिकांश का समावेश लोक-साहित्य में हो चुका है। प्राचीन लोक-साहित्य में आए जादू के उड़न खटोले को छोड़कर इस युग के लोक-साहित्य ने सीधे-सीधे हवाई जहाज को स्वीकार किया है। वैसे लोक-साहित्य में बैलगाड़ी, घोड़ा, ऊँट, हाथी तथा नौका आदि वाहन अब भी जीवित हैं किंतु मोटर एवं रेलगाड़ी ने भी अपना स्थान बना लिया है। वर्तमान काल में होनेवाले नव निर्माणों को भी उक्त साहित्य में स्थान मिलता जा रहा है। इन साहित्यिक रचनाओं के साथ वे सभी लक्षण भी लगे हुए हैं, जो उन्हें दीर्घ जीवन प्रदान करते हैं। प्रायः विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि यदि विस्तृत लोक-साहित्य का संग्रह नहीं कर लिया गया तो उनका लोप हो जाएगा। बात सही है क्योंकि युगप्रभाव के कारण प्राचीन रचनाएँ अनुपयुक्त प्रतीत होने लगती हैं और फिर धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं, जैसा कि इस समय हो भी रहा है। सिनेमा के गीतों ने गाँवों में अपना स्थान बना लिया है जिससे लोकगीत क्षीणता को प्राप्त हो रहे हैं। शिक्षा का प्रसार होने के कारण भी गाँवों की बोलियों में गीत गानेवाले पुरुषों एवं स्त्रियों का अभाव होता जा रहा है। ऐसा लग रहा है कि कुछ दिनों में विभिन्न संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले प्राचीन लोकगीतों का लोप हो जाएगा और उनके स्थान पर नवीन गीत स्थान पाएँगे या यदि इच्छा हुई तो लोक-साहित्य के संग्रहों का देख-देख कर पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ गीत गाकर काम चलाएँगी। आटा पीसनेवाली कल गाँव में पहुँच चुकी है और भी बहुत से यंत्रों का प्रसार होता जा रहा है इसलिए 'जंतसर' (जाँत के गीत) तथा कुछ अन्य श्रम संबंधी गीतों की कमी होती जा रही है।

इसी तरह वर्तमान युग की घटनाएँ भी इसमें स्वीकार की जा रही हैं। झाँसी की रानी, कुँवर सिंह, गांधी जी, सुभाषचंद्र, भगत सिंह, खुदीराम एवं चंद्रशेखर आजाद आदि लोक-साहित्य में प्रतिष्ठा के साथ जीवित हैं। ये वीर सेनानी उसी कड़ी में जोड़े गए हैं जिनमें प्राचीन काल के वीरों के नाम आते हैं।

लोक-साहित्य का स्थान

उपर्युक्त विवेचन से लोक-साहित्य का स्थान स्पष्ट हो जाता है, किंतु धरातल से उठनेवाले इस साहित्य ने अपना एक शीर्षस्थ स्थान भी बनाया है जहाँ

उसे वैदिक साहित्य के समकक्ष आसन प्राप्त है। प्रमाण यह है कि हमारे लोकजीवन के बहुत से और विशेषकर सांस्कारिक तथा धार्मिक कार्य वैदिक मंत्रों से पूर्ण होते हैं। जहाँ ये मंत्र संस्कृत में पढ़े जाते हैं वहीं ग्राम्याओं द्वारा गाए जानेवाले लोकगीत तथा लोकाचार पर आधारित अन्य क्रियाकलाप भी चलते रहते हैं। एक ओर पुरोहित मंत्राच्चार करता है तो दूसरी ओर ग्रामीण स्त्रियाँ गीत गाती हैं। मुंडन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत तथा विवाह आदि संस्कारों पर और मकान, धर्मशाला, कुंआँ, तालाब तथा पोखर आदि का शुभारंभ करते समय भी मंत्र तथा लोकगीत साथ-साथ चलते हैं। ऐसा एक ही सांस्कारिक एवं धार्मिक तथा परमार्थ का कार्य लोकजीवन में नहीं मिलता जिसमें वैदिक साहित्य के साथ लोक-साहित्य को स्थान न प्राप्त हो।

भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने की मानवीय लालसा ने विभिन्न माध्यमों को जन्म दिया। लेखन, संगीत तथा विभिन्न प्रकार-की कलाएँ इन्हीं माध्यमों में से थीं। अपने मनोभावों , विचारों तथा समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए लेखन कला एक सशक्त माध्यम के रुप में विकसित हुई। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक की यात्रा में भारतवर्ष तथा विश्व के अन्य देशों में ऐसे असंख्य लेखक हुए हैं , जिन्होंने अनेक विषयों को आधार बनाकर साहित्य रचना में अपना अमूल्य योगदान दिया है।

भारतीय साहित्यकार शुरु से ही विश्व साहित्य के क्षेत्र में उच्च स्थान पर रहे हैं। रुहेलखण्ड क्षेत्र भी साहित्य के क्षेत्र में अग्रणी रहा है। रुहेलखण्ड में ऐसे अनेक साहित्यकार हुए हैं, जिन्होंने विविध विषयों पर साहित्य की रचना की है। इन साहित्यकारों का परिचय इस प्रकार हैं--

1. बच्चू 'सूर'
2. भक्त कवयित्री कृष्णाप्यारी 'दासी'
3. पं. राधेश्याम कथावाचक
4. पं. झब्बीलाल मिश्र 'हकीर'
5. पं.नारायण दास पाराशरी 'शोला'
6. लाल दास
7. पं. जागेश्वर प्रसाद
8. पं. छोटे लाल दीक्षित
9. श्री मन्नारायण

1. बच्चू 'सूर'

अब से लगभग 50 वर्षों पूर्व पीलीभीत जिसे के जमुनियां ग्राम के निवासी पंडित बच्चू लाल आयु कवि 'बच्चू सूर' के नाम से प्रसिद्ध थे। हाँलाकि उस समय कवि सम्मेलनों का अधिक प्रचार नहीं हुआ था, परन्तु आर्य समाज और सनातन धर्म संस्थाओं के आयोजन प्रायः अनेक स्थानों पर होते रहते थे। इन धर्म सभाओं में बच्चू सूर की कविताओं का एक पृथक कार्यक्रम रखा जाता था। बच्चू श्रोताओं की छोटी से छोटी समस्या की पूर्ति बड़ी आसानी से करते थे। बच्चू सूर जनता के कवि थे। उन्होंने अपना परिचय निम्न प्रकार से दिया है-

'खीरी जिला विच वास करे हम,मैगलगंज में पोष्ट विचारो।
नम्र को नाम जमुनियां है, तेहि मध्य में राजत धाम हमारो।
ब्राह्मण वंश में जन्म लियो शुचि छन्दन को रस प्राण से प्यारे।
सूरजी सत्य ही कहो मम यही पता हिय बीच में धरो।

एक बार उन्हें नागरी शब्द की पूर्ति करने को दी गयी। इस पर सूर जी ने एक हरि गीतिका छंद बनाकर सुनाया।

जेही मध्य है श्रुति चार जिनमें सुभग ध्वनी अमृत भरी।
है जिती विद्या अन्य देशन सकल मध्य उजागरी।
सो धरहु चित में पढ़हु याको सकल उपभो भरी।
कवि सूर बच्चू मति बिसारो मातृ भाषा नागरी।

सूर जी किसी भी समस्या का समाधान अपनी भाषा में बहुत आसानी से कहा करते थे। एक प्रश्न कि चकोर जब-जब चन्द्र के भ्रम में अंगार खाने लगता है, तब उसकी जीभ और चोंच जल जाती होगी, फिर भी वह इस लगन को नहीं छोड़ पाता। इसका क्या कारण है? सूर जी ने इसका उत्तर घनाक्षरी छंद में इस प्रकार दिया -

हम बासें भूमि पर हमारो मित्र अकाश,
हाम जन्द्र मित्र से मिलन न पायेगें।
यासे वन्हि चिनगी चबाय चारु चोंचन से
अपने शरीर से भ बनायेंगे।
बास कैहास तजि आवैं शम्भु भूमि तल,
मेरी भ हाथ लेकर सुतन लगायेंगे।
शम्भू के सुभाल बीच सोहत विशाल विधु,
भ ही होके मित्र तन लिपटायेगें।

प्रेम की प्रशंसा करने के लिए सूर जी ने बहुत ही भावुक पंक्तियों का प्रयोग किया है। एक व्याघ्र वन में वीणा बजाकर एक मृग को मोह लेता है। मृग वीणा की ध्वनि से इतना मंत्र- मुग्ध हो जाता है कि व्याध के तीर से मार दिया जाता है। मृग मरने से पूर्व एक याचना करता है कि 'हे व्याध एक बार वीणा की मधुर झंकार सुना दो।' सर्वेया घनाक्षरी के माध्यम से श्री बच्चू सूर जी ने अपनी इस बात को बड़ी सहजता के साथ कह दिया–

'उत्तम कानन् पाय भली विधि व्याध ने जाय के वीणा बनाई,
प्रेम में नभ के भूलि गयो मृग ताने सुनै लगो कान लगाई।
वीणा बजावत ही धुनु तीनि क् तीर हन्थो उर लक्ष्य बनाई,
लागें विषंग कुरंग गिरेऊ महि व्याधि से दीन गिरा प्रकचटाई।'
अमिष हितार्थ तैने लीने हमारे प्राण मांस बनवारी परिवारिन खिलाय दे।
मेरे सर श्रृंगन की अवश्य श्रंगी नाद करि मेरो तन धर्म ब्रहमचारिन गहाय दे।
ऐरे मित्र व्याध करबद्ध प्रार्थना है एक मेरी अभिलाषा यह ततक्षण पुराय दें।

जौन वीणा काज मैने आज आय दीन्हे प्राण मरत हूँ एक बार वीणा को बजाये दे।'

प्रकृति वर्णन के छन्द भी सूर जी ने रचे। बसन्त का छन्द, जिसमें श्याम बन माली की प्रतीक्षा में एक गोपी अपने दु:ख का वर्णन कर रही है, इस प्रकार है–

'आली बनमाली दिन मदन क्रुचाली यह,
करत विघती तन मेरो दीन्त है।
श्याम गयो श्याम गयो, सुखद विश्राम गयो,
सुखमय आराम गयो, दु:ख प्रगटन्त है।।
और ऋतु आबई, पियराई छोई ऐसे झूठ
मैं भी पियराई बैठि रोवत एकान्त है।
कुंज बसन्त में सुआती नाहिं कान्त हैं।

2. भक्त कवयित्री कृष्णाप्यारी 'दासी'–

19 वीं शती के अंतिम दशकों में इस कवयित्री ने संभल के एक प्रतिष्ठित और धनी सक्सेना (कायस्थ) परिवार में जन्म लिया था। इन्होंने अधिकांश भजनों में स्वयं के लिए 'कृष्णा दासी' नाम का प्रयोग किया है। कवयित्री ने दो दोहों में अपना परिचय इस प्रकार दिया है –

'मैहर संभल नगर में, कोल शहर ससुराल
वर बृजमोहन लाल से दमेअशिव त्रिपुरार
पुत्री मिट्ठन लाल की कृष्णा प्यारी नाम
भागनी हीरा लाल की सविनय करति प्रणाम।

कवयित्री कृष्णा प्यारी की एक पुस्तक 'प्रेम रस मंजीर' तीन संस्करणों में छपी है। इसमें 85 भजन और होली आदि का संग्रह है। उन्होंने लोक शैली में 'भजन-रामायण' और 'रामकथा' को लेकर अनेक पद रचे हैं।

कवयित्री ने विविध छंदों में अपनी भक्ति भावना को प्रस्तुत किया है, इसके उदाहरण हैं-

वंदना गणेश

वृद्धि सिद्धि सागर गुणज्ञान बुद्धि आगर
त्रैलोक में उजागर तुम नाशत भ्रम भारी है
मंगल शुभकरण हार विध्न के हरन हार
दाता उदार सोतो हारयो भंडारी है
सेवत ऋद्धि सिद्धि सार ठाढ़े मुनिदेव द्वार
महिमा अपार आदि वेदन उचारी है
आनंद के कन्दन पड़े पुष्प धूप चन्दन
ऐसे पार्वती के नंन्दन को वन्दना हमारी है।

चेतावनी

जिस गाड़ी में जाना तुमको,
एक पल छिन में वो आती है।
कुछ देर नहीं बाँधे बिस्तर,
घंटी उपदेश सुनाती है।
कर संट और अंजन गरजत,
धर-धर जियरा मोरा लरजत है
कर्क-तर्क वतन उस देश चली
जहाँ से नहीं आने पाती है
जिस गाड़ी में जाना तुमको
एक पल छिन में वो आती है।

3 . पंडित राधेश्याम कथावाचक

पंडित राधेश्याम कथा वाचक अपनी बाल्यावस्था में अपने पिता के साथ जगह-जगह कथा करने जाते थे। कथावाचक जी जब लगभग आठ वर्ष के थे, तब एक बार अपने पिता के साथ 'रुकमणी मंगल कथा' कहने चन्दौसी गये। इस कथा के बीच-बीच में उन्होंने अपने कुछ स्वरचित गीत भी गाये, जिनको चन्दौसी की जनता ने बहुत पसंद किया। फलस्वरुप राधेश्याम जी जब बरेली वापस आये, तो उन्होंने नाटकों के गाने की तर्ज पर अनेकों भजन बना डाले। इसी मध्यान्तर में रामकथा के कई अंशों पर कथावाचक जी ने स्वरचित छन्दों को निरुपित किया, जिन्हें रुकमणी की मंगल कथा के बीच में गाया जाता था। इन्हीं छन्दों को राधेश्यामी छन्द कहा जाने लगा। छन्दों की लोकप्रियता को देखते हुये सम्पूर्ण रामायण की रचना की गयी।

राधेश्यामी छन्द मात्र पंडित राधेश्याम कथावाचक तक ही सीमित न रहे, राधेश्यामी छन्दों की लोकप्रियता को देखते हुये अन्य समकालीन बुद्धिजीवियों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इनमें बनारस के माधव शुक्ल जी, बरेली के निवासी रामसहाय 'तमन्ना', चन्दौसी के 'रामरुप', पीलीभीत के ज्वाला प्रसाद, राधेश्याम कथावाचक के अनुज मदन मोहन शर्मा इत्यादि कवियों के नाम प्रमुख रुप से आते हैं। इनमें माधव शुक्ल जी ने सम्पूर्ण महाभारत का राधेश्यामी छन्दों में अनुवाद प्रस्तुत किया।

राम सहाय 'तमन्ना' ने ध्रुव चरित्र की रचना राधेश्यामी छन्दों में की। इनकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

कारण क्या आज चाँदनी में, इस भाँति मलिनता मिलती है,
आश्चर्य दिवाकर प्रस्तुत है, फिर भी न कमलिनी खिलती है,
आँखों को सुख देने वाली, आँखें क्यों विकल हो रही हैं,
काजल से कजराली काली, क्यों जल से सजल हो रही हैं।

चन्दौसी निवासी लाला रामस्वरुप ने भी श्री राधेश्यामी छंदों में सम्पूर्ण महाभारत को प्रस्तुत किया है। इसमें इनके द्वारा रचित 'कीचक बध' प्रसंग बहुत ही प्रशंसनीय रहा है-

'दे दिया हुक्म मैमारों को एक नाच भवन सजवाने को।
कन्डील लैम्प फानूश झाड़ बिजली लाईट, लटकाने को।
सेदरी दुबारी चौबारे सब रंग रंगीले रंगवाय।
हर किस्म-कि के कमरों में कालीन मखमली बिछवाये।

पीलीभीत के ज्वाला प्रसाद कवि ने राधश्यामी छंदों में 'महिषापुर बध' की रचना की-

'संसार एक मायामय की, माया का दृश्य दिखाता है।
जिसमें पड़ ज्ञान-वान नर भी, मूरख सा चक्कर खाता है।
है देवि महामाया हरि की, जो सृष्टि जगत की करता है।
फिर पालन उसका करके बह, अपने ही में लय करती है।
संसार उसी की माया में, पड़कर भूला सा फिरता है।
मानव उसके ही कारण से, यों मोहकूप में गिरता है।

राधेश्याम कथावाचक के अनुज मदन मोहन शर्मा ने भी राधेश्यामी छन्दों में विभिन्न रचनायें रचना कीं। इनमें से एक है -

'जन्म क्यों व्यर्थ लिया, सरकार ?
लिया जन्म ही था तो जग का संकट देते टार
मधुर बाँसुरी बजा प्रेम की फैलाई गोआर।
फिर यह डायन फूट रही क्यों, बोलो नन्द कुमार ?
कंस और शिशुपाल के वध से, हरण हो गया भार ?
उनके तुल्य यहाँ फिरते हैं, कितने दैत्य अपार।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं, छाये प्लेग बुखार।
'जन्माष्टमी' तुम्हारी का फिर, कैसे हो त्यौहार ?
नहीं हरा है भार भूमि का फिर से हो अवतार,
इसीलिये तक रहे एक हक, 'मोहन' कारागार।

4. झब्बी लाल मिश्र 'हकीर'

मुरादाबाद का नाम याद आते ही पिछली शताब्दी की अनेक संस्कृति टीकाएं, तंत्र शास्त्र के ग्रंथ और नाटक याद आने लगते हैं। इन तीनों ही विधाओं के लिये मुरादाबाद के विद्वानों की सेवाएं विशेष हैं। पं. झब्बीलाल मिश्र 'हकीर' का जन्म मुरादाबाद के दीनदारपुरा मुहल्ले में सन् 1860 के लगभग हुआ था। सन् 1925 से पूर्व इनका निधन हो चुका था। हकीर जी उर्दू कवि के रुप में प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी कविताओं को पं. बल्देव प्रसाद मिश्र ने अपने एक संग्रह 'महामनमोहनी' में दिया है। हकीर जी 'बुलबुल' और 'प्रेमसखी' नाम से भी कविता करते थे। बुलबुल नाम से की गई अधिकांश कविताएं श्रृंगार परक हैं। गोपियों और कृष्ण की पनघट की छेड़छाड़ और ऊधो गोपियों के संवाद जैसे

विषय ही मुख्य रुप से इन्होंने बुलबुल नाम से लिखे। 'महामनमोहनी' के संग्रह से प्राप्त इनका राग जोगिया में दिया एक पद यहाँ भी दिया जा रहा है। इसमें एक नायिका अपने प्रियतम के परदेश जाने पर अपने दु:ख कहती है –

'आलीरी अब कैसे जिऊँगी
मेरे पिया परदेश सिधारे यह दुख कैसे भरूगी।
मन में मेरे ऐसो आवै जहर का प्याला पिऊँगी।
कटारी खाय मरूगी
तैन मुझे नित आन सतावै, विरहा अगन में जरूँगी
सुनीसेज डरावन लागी, मैं बैठी तडफूंगी
हाय मैं तो रो रो मरूगी
फागुन के दिन आये संखीरी का संग होरी खेलूंगी
सब सखियां पिया के संग सोवत, मैं किसके गले लगूंगी
पिया पिया किससे कहूंगी
बुलबुल कहै त्याग के वस्तर अंगाविभूति मलूंगी
करमें ले तुलसी की माला पियको नाम जपूंगी जोगन को वेष करूगी।

प्रेम सखी के नाम से भी कृष्ण भक्ति की कविताएं हकीर जी ने लिखी। इनकी हिन्दी कविताएं लोक-साहित्य में रखे जाने योग्य हैं। उन्नीसवीं शती में जनरुचि की सरल रचनाएं रचने की अभिरुचि लगभग सभी कवियों में थी। भारतेन्दु और पं. प्रताप नारायण मिश्र ने ऐसी अनेक लोक रुचि की कविताएं लिखी, जिनका संग्रह 'महामनमोहनी' में विशेष है। हकीर जी का एक बारहमासा देखें। इसमें गोपियां कृष्ण के विरह में डूबी ऊधो से अपने बारह मासों का कष्ट बता रही हैं –

कातिक आया सजे सब मंदिर अगन लिपाय सखी चंदन से रे।
भई है न हरि विन दीपमालिका ब्रज में ब्रजवालन में रे।
यमुनाजल स्नान करतही ब्रजवनिता सब आगहनमें रे
इक दिन चीर है मनमोहन आय गये किस से छिन मरे।
पूष में रुष गये हरि जब से फिर नाहिं आये ब्रजवनितन में रे।
आप न आये अपने बदले में पठयों ऊँधों को योग वियोगन मेरे।
माघ वसंत धरै सब्रके शिर अतर अगावै सब वस्त्र मैं मेरे।
हमरों बसन्त हरो कब जाने मोहिलिये हरिसेनन में रे।
फगुआ फीको रंग लाले बिन उड़त गुलाल न ग्वालन में रे।

रोम रोय नयन भये पिचकारी होरी भई ऐसी फागुन मेरे।
बारह मास व्यतीत भये मन लाग रहो हरि दर्शन में रे।
प्रेम सखी की यही पर दीजौ राखिलेहुमोहि चरणन में रे।
छोड़ गयो हरि वारी उभर में मन की रही ऊधो मन में रे।

पं. झब्बीलाल मिश्र मुरादाबाद के प्रसिद्ध लेखक पं. कन्हैया लाल मिश्र के ताऊ थे। इनके पिता का नाम पंडित शिव दयाल मिश्र था। पं. झब्बीलाल जी ने सरल हिन्दी में कुछ काव्य रचे थे जो अपने समय में लोकप्रिय रहे। इनके द्वारा रचित लोक काव्यों में संगीत हीरापारी व लाल शहजादा, सब्जपारी महरु शहजादा, सनोवर परी व गुल शहजादा, परीरु व गुलरु, राजा परीक्षित, अधर जोगन आदि प्रमुख हैं।

इनकी रचना, 'प्रेम सरिता' को वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई ने प्रकाशित किया था। सन् 1926 में प्रकाशित 'प्रेम सरिता' में दान लीला, गेंद लीला, मुरली लाल, रास पंचायायी, मुकुर लीला, रुपधारण लीला, हिंडोर लीला, और उद्धव वृन्दावन गमन लीला नाम के आठ अध्याय हैं। पूरे ग्रंथ में चौबीला छन्द का प्रयोग किया गया है एक चौबीला इस प्रकार है –

एक समय घनश्याम ने कियो मेरो सिंगार
निज करसों चोटी गुंथी मोतिन मांग संवार
मोतिन मांग संवार श्याम बैंदी बैना पहिराये
नाक बीच नथ और कान में करन फूल लटकाये,
ऊधो जी शिर औदनी उतार मुझे सारी पहिराई
उन्हीं श्याम ने ऊधो हाथ भभूत पठाई
पहुँची हाथ पांच में नुपूर सुन्दर चीन चढ़ाए
उन्हीं श्याम माटी के मुद्रा ऊधो हाथ पठाये।

मिश्र जी ने 'प्रेम सरिता' में गद्य का भी यत्र तत्र प्रयोग किया। भाषा का यह उदाहरण अपने में पर्याप्त रोचक है। यह पंडिताऊ भाषा पुराने संस्कृत के टीकाकारों द्वारा प्रयोग में लाई जाती थी। एक अंश देंखें –

"ऐसे कहि श्री कृष्णचन्द्र वृषभान सुता को साथ ले अंतर्धान भये और एक वृन्दावन की कुंज में जाय पतन को बिछौना कर श्री राधा सहित विश्राम कियों फिर राधिकासों हरि कही कि, हे प्यारी। मैं तेरो शृंगार करू। यह कहकर फिर शृंगार करने को उपस्थित भये और जब प्रथम चोटी गुहन बैठे तब प्यारी के मुख देखन में अंतर हुआ। इससे हरि व्याकुल हो गये। तब प्यारी प्रीतम को विकल

जान दर्पण अपने हाथ में लिया और अपने चन्द्रमुख हरि को दिखायों। फिर हरि प्रियों को देखिवे लगे।"

5. नारायण दास पाराशरी 'शोला'

बदायूँ के लोक कवियों में पं. नारायणदास पाराशरी जी प्रसिद्ध रहे हैं। ये कविता में अपना नाम 'शोला' लिखते थे। शोला जी द्वारा रचित रामायण गाँव-गाँव में प्रचलित रही है। 'शोला' जी की रची हुयी आला खड़ी बोली में थी, जिस पर बदायूँनी भाषा का पूरा-पूरा प्रभाव था। इनके समकालीन अन्य कवि मुंशी त्रिलोक चंद, मुंशी दयाशंकर, पं. खैराती लाल 'निंदा', ठाकुरी सिंह 'अख्तर' और मुंशी कल्याण राय आदि थे।

पं. राम गुलाम मिश्र जो कि पाराशरी जी के ही समकालीन थे, ने ये पंक्तियाँ शोला जी के बारे में लिखीं -

'बानी रस सानी सुनि शारदा सिंहानी
इस सृष्टि की कहानी चौबोला में वखानी है
काव्य रस प्यासे जो फिरत हैं निरासे
पी कविता के बताशे बुद्धि, तिनकी छबानी है
कविवर अनमोला प्रथम गावै बंभोला रामा
गुणचौबोला करि मुक्ति की निसानी है।
कृपा करै भोला और जीवै शौला
देखि इनके चौबोला बुद्धि कबिनु की बिकानी है।

6. लालदास

लालदास जी बाँस बरेली के कवि थे, हांलाँकि बाँस बरेली के लाल दास के बारे में ज्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु भरत की बारामासी के अंतिम छंद में उनकी सामान्य चर्चा है-

नब्बे साल लोंद की भादों
अगहन गहन परयो
बांस बरेली के लाल दास ने
राम नाम उचर यो
भरत की यह बारामासी
गावैं सुनें परम् पद पावैं

कहे यम की फांसी
वैदहि मिलि ऐसे ही गाई
करम लेख नहीं मिटे
करां कोई लाखन चतुराई।

लालदास की 'बारहमासा भरत का' नामक रचना सन् 1870 में बरेली से प्रकाशित हुई थी जिसकी एक प्रति 'इंडिया हाउस' लन्दन में सुरक्षित है। यहाँ इसकी दो प्रतियां उपलब्ध हैं। पहली प्रति में 8 पृष्ठ हैं और वह लीथो पद्धति से मतबअ जहांगीरी में छपी थी। दूसरी प्रति मुल्ताजमल प्रिंटग प्रेस नीमच से प्रकाशित 'बड़ा सूर्य पुराण' में है। इसका रचना काल सन् 1833 है।

इस जन कवि की छंद योजना भी उत्तम श्रेणी की है। यहाँ उसे सम्पूर्ण दिया जा रहा है-

चैत पीछले पाख राम नौमी को जन्म लियो,
अवधपुरी सुख धाम सखिन मिलि मंगल चार कियो
खबर जब दशरथ ने पाई,
दिये दान गज वाज गऊ दिन थोरे की ई
सभा सब प्रफुलित व्हे आई
कर्म लिखी जा मिटै करो कोई लाखो चतुराई।
लागत ही वैशाख केतकी वावरि करि डारी
भरत कहै धृक हमरो भई जब तुम सी महतारी
दु:ख सब नगरी को दीये,
तीन लोक के नाथ राम तैने वन वासी कीये
कूरमति कैसी वनि आई
कर्म लिखी न मिटे करो कोई लाखो चतुराई।
जैठ जुरे सब पंच भरत को गद्दी बैठारो
भरत धरत कानन पै हाथ नाथ मोहि गरदन क्यों मारो
सरे जहिं इन वातज काजा
तीन लोक के नाथ नाम वे अयुध्या के राजा
बात यह सबके मन भाई
कर्म लिखी ना मिटे करो कोई लाखे चतुराई।

7. पंडित जोगेश्वर प्रसाद

जोगेश्वर प्रसाद जी चन्दौसी में होने वाली कवि गोष्ठियों में नियमित भाग लेते थे और यहाँ पर दी जानी वाली समस्याओं की पूर्ति करते थे। पं. जोगेश्वर प्रसाद कृत एक छंद –

'काम की जो पाई देह रामनाम ही के हेतु
रतन लगावे अब क्यों न हरिनाम की
नाम रटन ही ते कलेश दु:ख भाग जाय
प्राप्त हो तो, खानि अमित आराम की।
राम की कृपालुता से भव सिन्धु पार होय
सीधे तू पहुँच गाये शरण राम की
श्याम जी की जो छवि अभिराम न बिलौकी जोपै
व्यर्थ गयो जीवन तो ये आँखें कौन काम की।'

8. पंडित छोटे लाल दीक्षित 'द्विज दास'

ये भी चन्दौसी के प्रतिभाशाली कवि थे। पं. छोटे लाल दीक्षित के एक भाई कर्ण बास की दुष्टों के द्वारा गंगा में डुबोकर हत्या कर दी गई। दीक्षित जी की आत्मा को इस घटना से अपार कष्ट हुआ और उससे दु:खी होकर जो उन्होंने छंद रचे, वे साहित्य की निधि हैं। इनमें से कुछ छंद इस प्रकार हैं –

'मौन क्यों हो कर्णवास के निवासी सब
मेरी अरजी को नैक चित में धरो नहीं
'द्विज दास' आरत पुकारत है बार-बार
द्वार-द्वार डौले दीन दु:ख के हरो नहीं
अंध के सहारी प्राण धारो जैनारायण
कैसो गयो मारो सो बतावो सो डरो नहीं'
'कौन से कसाईन नसाई मोर आशा लता
माहिर सबै हो ताहि जाहिर करो नहीं
सिंह के सम्हारो खड्ग खप्पर त्रिशुधारी
वेगि ही पधारो द्विजदास प्रति पातिका
मौन क्यों सभी हो फिरि कौन पै फिराउ जाय
वेगि ही संहार करो शत्रु कुल सालिका
मारि-मारि दुष्टन के वंश निरवंश करो

राकहु वयै ना नरनारि बाल-बालिका
जौन-जौन जानि के हुबायो जै नारायण
तौब दुख देवा को कलेवा करो कालिका।'

9. श्री मन्नारायण

श्री मन्नारायण चन्दौसी के प्रतिष्ठित और प्रतिभावान कवि रहे हैं। इनके अनेक कवि शिष्य भी थे। श्री मन्नारायण द्वारा रचित 'संगीत सुदामा चरित्र' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ, जिसमें कृष्णा की शोभा पर छंद लिख गए हैं -

मारे पच्छवारो स्वच्छ माथे पे मुकुट सोहे
श्री मनु सु सोहे मन कुण्डल हिलोर है।
पति पर अंग लसे काछनी विचित्र करने
मन्द-मन्द हँसे चित चो बर जोर है।
अति छवि बारी अरी। गुजमाला न्यारी
चल देख उठ प्यारी। माल केसर की खारे है
मुख में तमोल मनो खूबी के खजाने खोल
ढाढ़ों नन्दजू की धौरि नन्द को किशोर हैं।

लोककथा

'लोककथा' की अवधारणा समाजशास्त्र और नृविज्ञान के अध्ययन के माध्यम से पश्चिम में उत्पन्न हुई। स्वाभाविक रूप से, लोक कथाओं का अध्ययन सांस्कृतिक नृविज्ञान के नाम पर लोक संस्कृति का अध्ययन है। लोककथाओं में साहित्यिक संस्कृति (साहित्यिक-साहित्यिक) और मौखिक उपकरणों (स्टीरियोटाइप, रीति-रिवाजों, पारंपरिक कला, शिल्प कौशल, खेल, ज्योतिष, चिकित्सा, आदि) के सभी साहित्यिक उपकरण शामिल हैं। फिर भी मानवविज्ञानी इस पर सहमत नहीं हैं। कुछ के अनुसार, फौजदारी संस्कृति में एकमात्र पारंपरिक शाब्दिक उपकरण है।

फिर भी, उन्नीसवीं सदी के शोधकर्ताओं को यह एहसास हुआ कि समग्र संस्कृति के मूल में संस्कृति में शाब्दिक और वर्नाकुलर दोनों तरह के बुनियादी और सभी शामिल उपकरणों को एक अलग अध्ययन क्षेत्र के रूप में मान्यता दी गई थी। सभी साहित्यिक उपकरण (लोकगीत के साधन) और गैर-मौखिक वाद्ययंत्र (अर्थ और अर्थ के उपकरण) लोककथाओं में शामिल हैं, जो लोक

संस्कृति का एक अभिन्न अंग हैं और आधुनिक तथा आधुनिक भारतीय अध्ययनों में , 'लोक-साहित्य' शब्द की शुरुआत और प्रयोग मराठी में हुआ। यह अब लुढ़क रहा है। यह इस अर्थ में है कि एक स्वतंत्र संकाय के रूप में प्रस्तुत लोक-साहित्य को माना जाता है।

इस व्यापक अर्थ में, लोक-साहित्य की अवधारणा के सभी तत्त्वों को एक पेड़ (पृष्ठ 5 पर) में दिखाया गया है।

ई. सी. सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक, मध्य युग के अंत के साथ दुनिया के पश्चिमी भाग में मध्ययुगीन प्रणाली शुरू हुई। यह स्थिति भारत में उन्नीसवीं सदी में हुई। प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार के साथ, लिखित सामग्री के निर्माण और प्रसार की लहर थी, जबकि एक ही समय में, पूर्व-प्रिंट मौखिक परंपराओं के साहित्य और संस्कृति के अध्ययन और अभिलेखागार की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सामग्री के लिए 1 में अंग्रेजी पुरातत्त्वविद् विलियम जोन्स टॉमस द्वारा पहली बार अंग्रेजी शब्द 'फोकलोर' का इस्तेमाल किया गया था और दुनिया भर में इसका व्यापक रूप से उपयोग किया जाने लगा।

यद्यपि लोक-साहित्य आज अंग्रेजी लोककथाओं का एक पर्याय है, लेकिन साहित्य शब्द मराठी अर्थ (साहित्यिक) में पहले से ही रूढ़िवादी है, जिसे साहित्यिक कथा, लोक-साहित्य माना जाता है। यह कहानियों, अहंकार, लोककथाओं, कोड़ी के साहित्यिक साहित्य में भी शामिल है।

इसी तरह , लोक-साहित्य में उपसर्ग श्लोक की व्याख्या अक्सर ग्रामीण, अनपढ़, पुरानी परंपरा के रूप में की जाती है, जो सही नहीं है। लोक-साहित्य आदिम लोगों का साहित्य नहीं है। 'लोकतंत्र शब्द में' 'वे के सबसे करीबी lokasahityamadhila की स्थिति को दर्शाता है' लोगों की पैदल सेना में शामिल है यानी ये पे लोग ' सिर्फ पुराने या नए नहीं हैं, केवल ग्रामीण या केवल शहरी हैं, साक्षर नहीं हैं या सिर्फ अनपढ़ हैं। सांस्कृतिक रूप से विशिष्ट मानसिक स्थिति वाले लोगों के समूह को 'लोग ' कहा जाता है। लोग 'शब्द हमेशा समूहबद्ध होता है।

भारत में , 'लोगो' शब्द का उपयोग प्राचीन काल में विभिन्न अर्थों में किया गया है। स्वर्ग, मृत्यु, रसातल आदि। Tribhuvanam 'लोगों ' uttarapad के रूप में प्रयोग किया जाता है। जैसे, स्वर्ग, आदि। 'लोग' शब्द का उपयोग आपके अलावा अन्य समूहों के लिए किया जाता है। हिंदी में जन, जनपद और

देहाती शब्द लोगों को लोगों की तरह महसूस कराने की कोशिश की गई थी। डॉ. श्याम परमार ने लोक 'शब्द के सटीक दायरे को विस्तृत किया है। वह कहते हैं कि 'लोग' सामान्य लोग हैं , जिसमें इलाके में फैले सभी प्रकार के मानव शामिल हैं। यह शब्द प्राचीन सभ्यता की सर्वश्रेष्ठ राशि, संस्कृति की कल्याणकारी समालोचना के साथ वर्गहीन, व्यापक और प्राचीन परंपराओं का प्रतीक है। " - प्राचीन काल में, नागरिकों को प्द विदेशियों के लिए लोग' कहा जाता था' यह शब्द रूढ़िवादी था। लेकिन फिर वैदिक और वैदिक पुलों के बीच की दूरी गायब हो जाती है और 'लोगों' शब्द का अर्थ लेन-देन से भी गुजरता है। अंग्रेजी में ,'लोक' शब्द का प्रयोग शिथिल और कुछ हद तक अंधाधुंध रूप से 'सभ्य' शब्द के खिलाफ किया जाता है। हालांकि , phokaloara 'में लोक' छाया में नहीं है। मराठी लोगों के अर्थ में ऐसा नहीं है।

पश्चिमी विद्वानों ने लोककथाओं शब्द को सटीक रूप से परिभाषित करने की कोशिश की है। संयुक्त राज्य अमेरिका , ब्रिटानिका, कोलंबिया जैसे पश्चिमी ज्ञानकोष और सामाजिक विज्ञान के विश्वकोश की तरह थिसॉरस के साथ-साथ लोककथा, पौराणिक कथाओं और किंवदंतियों के शब्दकोश। इस व्यापक व्याख्यान में लोककथाओं के स्पष्टीकरण की गुंजाइश और प्रकृति को समझाया गया है। तदनुसार, लोककथाओं में, लोक जीवन में वे सभी तत्त्व शामिल हैं, जो सहज, सहज और अनजाने परंपराओं द्वारा बनाए गए हैं, समूह प्रतिभा और लोगों के द्रव्यमान की चेतना से। इसमें कहानी, गीत, कहानी, कहानी, चुटकुले, पहेलियाँ, चुटकुले, लोक कथाएँ आदि शामिल हैं। सभी साहित्यिक साहित्य के अलावा, गैर-साहित्यिक साहित्य में लोकप्रिय धार्मिक अनुष्ठान, विश्वास, देवता, रीति-रिवाज, विश्वास, अनुष्ठान, पूजा, सभी कला, शिल्प, खेल, चिकित्सा, खाद्य लेख और उनके उपयोग के तरीके शामिल हैं।

संक्षेप में, लोक-साहित्य में सांस्कृतिक रूप से अंतरंग समूह की सांस्कृतिक प्रणाली का आविष्कार किया जाता है। इसके पीछे प्रेरणा समूह की सामूहिक चेतना है। इसलिए, समूह जीवन की सभी सामग्री स्वचालित रूप से बनाई जाती है। इसलिए, लोककथाओं का निर्माण एक स्वचालित रूप से गठित समूह का निर्माण है। वास्तव में, भले ही एक गीत या कहानी किसी व्यक्ति द्वारा बनाई गई हो, इसके पीछे प्रेरणा समूह है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। व्यक्ति का अपना नहीं है, लेकिन समूह का मालिक है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ग्रुपमैन समूह-निर्मित सामग्री बचाता है। यह

परंपरागत रूप से संरक्षित था। यह स्वचालित रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाता है। यह देश के आधार पर भी भिन्न होता है। लेकिन वह समूह प्रेरित और स्वीकृत है। इस अर्थ में लोकगीत हमेशा बहते हैं। हालांकि पुराना है, समूह हमेशा ताजा रहता है। यह समूह की इच्छाओं और आवश्यकताओं में लगातार जोड़ा जाता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ग्रुपमैन समूह-निर्मित सामग्री बचाता है। यह परंपरागत रूप से संरक्षित था। यह स्वचालित रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाता है। यह देश के आधार पर भी भिन्न होता है। लेकिन वह समूह प्रेरित और स्वीकृत है। इस अर्थ में लोकगीत हमेशा बहते हैं। हालांकि पुराना है, समूह हमेशा ताजा रहता है। यह लगातार समूह की जरूरतों और जरूरतों में जोड़ा जाता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ग्रुपमैन समूह-निर्मित सामग्री बचाता है। यह परंपरागत रूप से संरक्षित था। यह स्वचालित रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाता है। यह देश के आधार पर भी भिन्न होता है। लेकिन वह समूह प्रेरित और स्वीकृत है। इस अर्थ में लोकगीत हमेशा बहते हैं। हालांकि पुराना है, समूह हमेशा ताजा रहता है। यह लगातार समूह की जरूरतों और जरूरतों में जोड़ा जाता है।

लोक-साहित्य और नागरिक साहित्य या कुलीन साहित्य के बीच संबंध के बारे में भी विभिन्न राय हैं। एक और दृष्टिकोण यह है कि सभी साहित्य लोक-साहित्य में निहित हैं जबकि लोक-साहित्य कुलीन साहित्य की भ्रष्ट नकल है। वास्तव में लोक-साहित्य और कुलीन साहित्य लगातार आदान-प्रदान और परिवर्तित कर रहे हैं। यदि लोक परंपराएं और कुलीन परंपराएं अन्योन्याश्रित हैं तो ही दोनों स्वस्थ विकास कर सकते हैं।

लोककथा फौजदारी के लिए एक वैकल्पिक मराठी शब्द है, जिसका इस्तेमाल पहले जाने-माने समाजशास्त्री और लोकगायक दुर्गाबाई भागवत ने किया था और बाद में इसे अपनाया। मराठी लोकगीत बनाम के प्रारंभिक चिकित्सक ए राजवाडे ने पहली बार 1969 में 'लोकगीत' और ' लोकगीत' शब्दों का इस्तेमाल किया था। बाद में उन्हें पारिभाषिक शब्दों के रूप में मान्यता दी गई। Phokaloara अंग्रेजी दत्तो वामन Potdar शब्द के लिए एक विकल्प के रूप 'lokavidya नाम का सुझाव दिया था, लेकिन वह प्रचलित नहीं हो सकता है।

भारतीय लोककथाओं के डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने हिंदी में लिखते समय 'लोकवार्ता' शब्द का सुझाव दिया था और यह हिंदी में लोकप्रिय हो

गया है। 'लोक-साहित्य' शब्द का प्रयोग हिंदी में भी किया जाता है। "Gramasahity, ' ' सवांलंदं श्यह शब्द है, तथापि, नहीं प्रथागत शादी हो सकता है।

पं. कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक संस्कृति ' शब्द को लोककथाओं के सार्थक विकल्प के रूप में सुझाया है। लेकिन मराठी के लोकगीत शिक्षक डॉ. प्रभाकर मंडे के अनुसार, श्लोक-साहित्य कोई लोक संस्कृति नहीं है। " उनकी राय में, दोनों तत्त्व समान हैं लेकिन समान नहीं हैं। लोक-साहित्य लोक-संस्कृति के अध्ययन का एक उपकरण हो सकता है।

डॉ. खैर, पं. कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल और पश्चिमी विद्वानों के अनुसार, लोक-साहित्य का अध्ययन संस्कृति की कहानी में सभी साहित्यिक और सभी मौखिक सामग्री का अध्ययन है। स्वाभाविक रूप से, इस अध्ययन का दायरा बहुत बड़ा है। यह अध्ययन किसी विशेष समाज के लोक-साहित्य (लोक संस्कृति) का अध्ययन करने के लिए उस समूह के इतिहास, उनके भूगोल, समाजशास्त्र, नृविज्ञान, पुरातत्त्व, भाषा विज्ञान, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, दैव और अर्थशास्त्र के अध्ययन के सहयोग के बिना पूरा नहीं होगा। यही कारण है कि यह एक बहु-विषयक या समन्वित अध्ययन दृष्टिकोण है। एक स्वतंत्र पाठ्यक्रम के रूप में, लोक-साहित्य को समन्वित करने की आवश्यकता है। उस संबंध में, प्रयास शुरू हो गए है। लोक-साहित्य के अध्ययन का एक अन्य महत्वपूर्ण कारक क्षेत्र कार्य है। फील्डवर्क के अलावा, लोक-साहित्य की समग्र समझ होना मुश्किल है।

संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, रूस के वैज्ञानिक रूप से उन्नत राष्ट्रों में विश्वविद्यालयों से लोक-साहित्य के अलग-अलग विभाग हैं। इस विषय पर बड़ी संख्या में पुस्तकों का उत्पादन किया जा रहा है। जब आकाश छलांग लगा रहा होता है, तब भी मनुष्य का मिट्टी का बरतन नहीं निकल सकता है, यही वजह है कि मनुष्य का मूल समूह उसे अपनी जड़ों की ओर वापस खींच रहा है।

भारत में भी, कई विश्वविद्यालयों से लोक-साहित्य की कई शाखाएँ शुरू की गई हैं। कई मनोविज्ञान शोधकर्ता एक साथ मैसूर विश्वविद्यालय में शोथ कर रहे हैं।

लोकगीत के भीतर तत्त्वों का एक पदानुक्रम

यहां फोक-म्यूजियम है। राजस्थान में एक लोककथा-संग्रहालय भी है। भारत का सांस्कृतिक खाता लोक कला के अध्ययन और संरक्षण के लिए निरंतर प्रयासरत है।

केरल में कुछ छात्र सहजता से लोकगीत नामक एक लघु पत्र प्रकाशित करते हैं। दुनिया भर के चिकित्सकों के साथ बातचीत करने के लिए विभिन्न राष्ट्र हर साल अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सेमिनार आयोजित कर रहे हैं। हर साल , 'लोकगीत कांग्रेस' नामक एक सम्मेलन भी आयोजित किया जाता है।

लोक-साहित्य केवल अतीत की सांस्कृतिक घटनाओं का अध्ययन नहीं है, बल्कि यह उस जीवित सांस्कृतिक जीवन का अन्वेषण है जिसे मनुष्य ने अनजाने में मानव संस्कृति की शुरुआत से बचा लिया है। इसलिए, इस तथ्य की एक समृद्ध समझ है कि मनुष्य का वर्तमान अतीत द्वारा बनाया गया है और यह कि उसका भविष्य अतीत-वर्तमान पर आधारित है, लोक-साहित्य के अध्ययन से आ सकता है।

उपरोक्त वृक्ष के अनुसार, लोककथाओं, लोककथाओं, गीतों और कहानियों को अक्सर शाब्दिक लोककथाओं के रूप में माना जाता है। लेकिन पूरे भारत में कई जनजातियाँ अपनी बोली में जाति-आधारित हैं। अभिजात संस्कृत संस्कृत की लोक-कथाएं हैं। प्राय: प्रचलित और प्रसिद्ध पुराणों की अवधारणाओं और कहानियों को समझने वाली कहानियां अलग-अलग जातियों के मिथकों में देखी जाती हैं। जाति आधारित न्यायपालिका पर शासन करने वाले नियम पारंपरिक रूप से उस जाति समुदाय में प्रचलित हैं। उनकी मौखिक परंपराएं हैं। उन समुदाय है, जो samajasasanace नियमों के Ekaparine 'स्मृति' हैं। शायद ही कभी उनके पास लेखन बाड़े होते हैं। न केवल लोक संस्कृति, बल्कि समग्र रूप से भारतीय संस्कृति इन सभी उपकरणों की एक अक्षम्य उपेक्षा बन गई है। यहां की संस्कृति की जटिलताओं को उजागर करने के लिए ये बहुत महत्वपूर्ण उपकरण हैं। ये उपकरण औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया में भी विलुप्त होते जा रहे हैं।

लोगों की भाषा में देवऋषि और भगत की भाषा में कई मंत्र हैं। ऐसे लोकमन्त्र अभी भी सामान्य अर्थों में प्रचलित हैं। वे श्वेत वर्चस्व वाले समाज में भी हैं जिन्हें समाज का उच्चतम स्तर माना जाता है। एक महिला जब किसी बच्चे को देखती है तो वह कैसा दिखता है। लोकमन्त्रति 'अस्ति-समरण' है

जिसका उच्चारण नींद के दौरान किया जाता है। मंगलगौर की पूजा करते समय दुल्हन की पूजा करना, एक ऐसी परंपरा है, जो लोगों से आई है। उपरोक्त सभी उदाहरण मंत्रालय में पाए जाते हैं, जो वांछित शब्दांश पुनरावृत्ति को प्राप्त करने की पूरी इच्छा रखते हैं। इसके बावजूद, लोक-साहित्य को याद किया जाएगा, न कि केवल ग्रामीण, ग्रामीण और वृद्ध लोगों के साहित्य को।

हर उन्नत संस्कृति की जड़ें लोक संस्कृति में होती हैं और लोक परंपरा के कई अवशेष उन्नत चरणों में भी मौजूद हैं।

लोक-साहित्य की शाब्दिक परंपरा में भी, लोगों के रीति-रिवाजों, रीति-रिवाजों, कानूनों, बस्तियों को माना जाता है। आधुनिक जीवन शैली में उस परंपरा के कई रूप भी पाए जाते हैं।

लोक कला में, प्रायोगिक लोक कला के बारे में अक्सर सोचा जाता है। लेकिन शिल्पों का जितना व्यवस्थित अध्ययन होना चाहिए, उतना भारतीय शोधकर्ताओं ने अभी तक नहीं किया है। हाल ही में उसे एहसास हुआ है। चूंकि सभी लोक कलाओं की उत्पत्ति तीर्थ यात्रा में विश्वास के साथ निकटता से जुड़ी हुई है, इसलिए सभी भारतीय अभी भी पारंपरिक कला धर्म से जुड़े हुए हैं।

हालांकि, लोककथाओं के भारतीय संदर्भ में अध्ययन और शोध अभी भी दुर्लभ और उपेक्षित हैं।

भारतीय लोक-साहित्य– भारतीय लोककथाओं में प्राचीन और समृद्ध की समृद्ध परंपरा है। इस लोककथा की जड़ें प्राचीन वैदिक साहित्य में पाई जाती हैं। व्यक्ति के जन्म से लेकर अंतिम संस्कार तक, सभी भाषाओं में प्रमुख अनुष्ठान गाए जाते हैं। ऋग्वेद में मृत्यु के बारे में कहने के लिए सुराग हैं। इसी तरह, कुछ आदिवासी जनजातियों में अंतिम संस्कार के गीत हैं। पूर्व-ऐतिहासिक समय के कुछ भारतीय लोक गीतों को चीनी अनुवाद के रूप में संरक्षित किया गया है। ऐसे निर्देश बाशम के द वंडर दैट वाज इंडिया में पाए गए हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों की कहानियों की क्षेत्रीय और स्थानीय विशेषताएं सभी भाषाओं में पाई जाती हैं। प्रत्येक भारत शो pradesantalya lokavanmayata के तीन विभिन्न प्रकार के बारे में mulabandhatmaka विषय दोहराया गौरी (शिव पार्वती) विषय इन कहानियों में से शिव को आदर्श पति और परिवार का मुखिया बताया गया है। भौतिक धन और गरीबी पर काबू पाने का विरोधाभास, यह आत्मसम्मान, विवाह की पवित्रता और बंधन, पारिवारिक प्रेम की गरिमा, पत्नी का बेदाग चरित्र, विभिन्न भाषाओं के शिव- पार्वती लोककथाओं में पाए

जाते हैं। राधा-कृष्ण विभिन्न भारतीय भाषाओं के लोक-साहित्य में भी दिखाई देते हैं। सामाजिक बंधनों से परे सौंदर्य का आध्यात्मिक, आध्यात्मिक प्रेम का अद्‌भुत चित्रण है। रामसीता को भारतीय लोक-साहित्य में एक ही मूल के रूप में दोहराया गया लगता है। प्रेम और वफादारी की कहानियां पत्नी के पति, भाई के भाई, बेटे के पिता, दोस्त के दोस्त की कहानियों में पाई जाती हैं। आदर्शों की धुनें गाई जाती हैं। आदर्श राजा में प्राप्त वीरता, त्याग, विश्वासघात, आत्म-नियंत्रण, गुण और कर्तव्य की उत्कृष्टता लोक-साहित्य में पाई जाती है। नैतिकता और सदाचार का एक आदर्श चित्रण मिलता है। लोक-साहित्य पर अपने लेख में, रवींद्रनाथ टैगोर ने इन तीन मौलिक विषयों और उनकी विचारधाराओं का विस्तार किया। इन लोकगीतों से व्यक्तिपरक मूल्यों, दृष्टांतों के पीछे बौद्धिक निहितार्थ, कहावतों की व्यावहारिक ज्ञान और सरलता , गीत-संगीत की लयबद्धता, जनता की आविष्कारशीलता और आविष्कार की सरलता और सहज सुंदरता लोक-साहित्य की पहचान है, और यह इन गुणों में है कि भारतीय लोककथाओं में सभी क्षेत्रीय भाषाविदों को एक सामान्य और आम लिंक ढूंढ़ना है।

लोक संस्कृति के कुछ सामान्य तत्त्व भारत की प्रमुख भाषाओं में लोक-साहित्य में पाए जाते हैं। सभी भाषाओं के लोक-साहित्य में त्योहारों के साथ-साथ अनुष्ठानों, अंतिम संस्कार गीतों, अनुष्ठानों , गीतों और रीति-रिवाजों के विविध और प्रचुर रूप हैं, साथ ही साथ लोककथाओं के कई रूपों, साथ ही सामाजिक संदर्भों के साथ लोककथाएं भी हैं। यह लोककथाओं का एक आविष्कार है, यह कहना है कि जनता की सरलता और सरलता व्यक्त की जाती है।

लोक गीत – असमिया में बिहू गीत अन्य प्रांतों में नए साल के आगमन के दौरान गाए जाने वाले गीतों से समानता दर्शाते हैं। बंगाली टुसु गीत, हिंदी फाग (फाल्गुम) गीत, पंजाबी तीजा गीत, तमिल तिरुविलपट्टु विभिन्न प्रांतों के प्रमुख त्योहार-उत्सव गीत थे। लोकगीत अनुष्ठान के हिस्से के रूप में गायन का एक अनूठा रूप है, और यह प्रत्येक क्षेत्र की विशिष्ट लोक संस्कृति की विशेषता है। भारत के कई क्षेत्रों में प्रचलित लोक धर्म में काली पूजा का विशेष महत्व है। यह विशेष रूप से केरल, बंगाल और असम राज्यों में पाया जाता है। काली एक देवी है जिसे विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। माँ या सिताली (असम), अम्मन या मरियमन (केरल और तमिलनाडु), माँ, अंबाबाई,

गौरी आदि महाराष्ट्र में। 'देवी' वह साथी की बीमारी से जुड़ा देवता है और इलाज के लिए धार्मिक संस्कार गाए जाते हैं। विभिन्न मौसमों में प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण लोगों में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन करते हुए, मौसम हर जगह हैं। बुवाई और कटाई के क्षेत्रों में, किसानों में मौजूद खुशी और खुशी लोक गीतों के रूप में प्रकट होती है। ऐसे गीत भारत की सभी भाषाओं में पाए जाते हैं। श्रमिक गीत गाते हैं ताकि काम पर श्रम को हल्का किया जा सके। पे प्रत्येक क्षेत्र की विशेषता हैं, और वे व्यापक रूप से पाए जाते हैं। बंगाल में मिसल, तमिल में तोलपट्टु, सिंधी में हमरो और वेलारो सहित उदाहरणों का उल्लेख किया जा सकता है।

कुछ लोक गीतों को जनता के मनोरंजन के लिए रचा और बजाया जाता है। कुछ उल्लेखनीय उदाहरण मलयालम कायाकोटिकली, असमिया गोरखिया गीत, तमिल कोलातम, ओडिया चित्रकूट गीत थे। नदियों, झीलों, महासागरों से सटे क्षेत्रों में नाव और सेलबोट प्रचुर मात्रा में हैं। उल्लेखनीय रूप से असमिया नोकहेलर गाने, मलयालम वैंकिपाटू, गुजराती अबवानी या भमानी थे। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विवाह भी प्रचुर और विविध हैं। उन्हें अलग-अलग शादी के अवसरों पर गाया जाता है। कई गाने सिर्फ मनोरंजन के लिए हैं। प्रत्येक भाषा में ऐसी शादियों के उदाहरण हैं। उदाहरणों में मलयालम में मलयालम तुरा अप्पट्टू, कश्मीरी में ओन्यूवन, उर्दू में जलावा गीत, तेलुगू में विटाली वारी पाटलु, तमिल में कल्याण- अप्पट्टु का उल्लेख किया जा सकता है। असमिया शादियों के इस वर्ग को 'वाया- नाम' कहा जाता है, सा शब्द है। कुछ स्थानों पर, लुत्पुत्तु के मेंढकों के विवाह की भी व्यवस्था है। यह एक लोकप्रिय धारणा है कि बारिश होती है। इतिहास, वीर सपूतों के मिथक और प्रतिमान सभी भाषाओं में पाए जाते हैं। ठंड के दिनों में, एक समूह के चारों ओर दु:ख जलाने और इकट्ठा करने, बातचीत और गायन करने की प्रथा पाई जाती है। इस तरह के समय में, कहानी अक्सर गीतात्मक होती है। यह प्रकार विशेष रूप से कश्मीरी लोककथाओं में पाया जाता है। संगीत की गुणवत्ता विशेष रूप से धार्मिक भय और कश्मीरी वत्सुन गीतों के बंगाली बाउल गीतों में पाई जाती है। लोकगीतों में लय का प्रभाव नागरिक निकाय के लेखन में स्पष्ट है।

लोककथाएँ – भारत में लोककथाओं की विरासत भी बहुत समृद्ध है। भारतीय लोककथाओं के आधार पर, गुंडा (बड्डाखा) की पौराणिक कथा, बौद्ध जातककथा, जैन धम्मलेख, सोमदेव की कहानी, दांडी के दशकुमारचरित,

विष्णुशर्मा का पंचतंत्र और कहावतों, स्टोरीटेलिंग बनाई गई थी। इसके अलावा, रामायण, महाभारत और पुराणों में भी मौखिक परंपरा से कई लोक कथाएँ हैं। भारत की जनजातियों में भी लोक कथाएँ प्रचुर मात्रा में हैं। लोकगीतों का सांस्कृतिक महत्व है। ये कहानियाँ एक जगह से दूसरी जगह जाती हैं और व्यापक रूप से प्रचारित की जाती हैं। विद्या इस व्यापक शब्द के तहत, बच्चों की परियों की कहानियां, अद्‌भुत कहानियाँ, मिथक, मिथक, मिथक, किंवदंतियाँ, धार्मिक कहानियाँ और दंतकथाएँ सभी शामिल हैं। ऐसी सभी कहानियाँ भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लोकगीतों में प्रचुर हैं। हर भाषा के लोकगीतों में सृष्टि के बारे में मिथकों के साथ-साथ जानवरों, पेड़ों, लताओं, देवताओं के बारे में मिथक हैं। कथा भी प्रचुर मात्रा में है। गोपीकांत बंगाल में ग्यारहवीं शताब्दी के राजकुमार की कथा है। गोरखनाथ और मच्छिंद्रनाथ की किंवदंतियाँ नेपाल और तिब्बत में भारत की उत्तर प्रदेश सीमा में फैली हुई हैं।

इस कहानी की कहानी भारत में हर जगह बहुत प्रचलित है। ये लोक कथाएँ मूल संस्कृत कथाओं पर आधारित हैं जैसे, सत्यनारायण कथा। इन देवताओं के व्रत, त्योहारों के उत्सव से संबंधित किस्से हैं। ये कहानियाँ विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं में प्रचलित हैं। कुंवारी, दुल्हन और विवाहित महिलाओं और उन व्रतों की पारंपरिक कहानियों के लिए अलग-अलग अनुष्ठान हैं। यद्यपि ये कहानियाँ गद्य में हैं, वे कभी-कभार मंत्रों की एक काव्यात्मक परीक्षा होती है। उन्हें पारंपरिक तरीके से पढ़ा जाता है। अक्सर, कहानी को एक कहानी के साथ जोड़ा जाता है, इस प्रकार एक शृंखला बनाई जाती है। ये कहानियाँ नैतिक मूल्यों और शाश्वत सच्चाइयों को दर्शाती हैं और उनके सांस्कृतिक कथानक हैं। सत्यनारायण कहानी, कहानी, शिवरात्रि कहानी जैसे कुछ रूपों में उस दृष्टिकोण के महत्व का उल्लेख किया गया है। यह उपवास, नैतिक शुद्धता पर जोर देता है। मैथिली में, वटसावित्री कहानी कहने का केंद्र है। उपवास करने से पुण्य मिलता है, पाप का नाश होता है। दुष्टों का नाश होता है। ऐसी कहानियां हैं, जो वांछनीय इच्छाओं को प्राप्त करती हैं, जबकि वेराटा का पालन करते हुए, यह चेतावनी दी जाती है कि इसके दुष्प्रभाव भुगतने होंगे, उदाहरण के लिए, नागपंचमी की कहानी और जिमातुवाहन कहानी। पुराणों और उपनिषदों से कुछ मिथक भी सामने आए हैं। मैथिली मधुश्रावणी व्रतकथा 'नामक कहानियों की एक शृंखला है। नवविवाहितों को इन पंद्रह कहानियों को पहले पंद्रह दिनों के मधुवनी व्रत में पढ़ना चाहिए। कार्तिक मछली की कहानी

को पारिवारिक जीवन में खुशी के रूप में सुनाया जाता है। यह दृष्टान्त एक परी कथा दृष्टान्त है। लोगों की आकांक्षाओं की दास्तां भी इन कहानियों में परिलक्षित होती है। इन कहानियों में देखा गया है कि युवा महिलाओं को अच्छे पति मिलते हैं, पति-पत्नी विवाह का आनंद लेते हैं, अच्छी संतानें होती हैं, सुखी लंबे पारिवारिक जीवन का आनंद लेती हैं। कार्तिक के महीने में, हरिसन कहानियों का पाठ किया जाता है। कुछ कहानियाँ काव्यशास्त्रीय रूप से मनभावन हैं। उदाहरण के लिए, सप्त-प्रस्फुट (धन-प्रलय) कहानी नलदंमंथी की कहानी पर आधारित है और इसे चौत्र मछली को प्रेषित किया जाता है। दलित जनजाति के सालेह देवता का स्वभाव भी ऐसा ही है।

भारत के कई राज्यों में पारंपरिक कथाकारों की व्यावसायिक जनजातियाँ हैं। उनका पारंपरिक व्यवसाय कहानी के माध्यम से जनता का मनोरंजन करते हुए गांव में घूमना है। लेकिन आधुनिक जीवन शैली में आधुनिक मनोरंजन प्रणालियों की उपलब्धता के कारण, संरक्षक की कमी के कारण व्यवसाय गायब हो रहा है।

गाँव के मंदिरों के तंबू में, खुले नाले या फुटपाथ पर लोक नृत्य किए जाते हैं। लोकगीतों में लिखित कोड नहीं होता है। उनकी बातचीत और क्रिया सहज होती है। ये संवाद मौखिक परंपराओं से आते हैं और कहा जाता है कि उन्हें याद किया जाता है। मौखिक परंपरा में वे अक्सर मुखर संगीत से भी जुड़े होते हैं। बंगाल में अभी भी प्राचीन लोक गीत 'कृष्णत्र' प्रचलित हैं। मध्य प्रदेश के लोक नाटक को 'माच' के नाम से जाना जाता है। प्राचीनतम लोककथाएं महाकाव्यों, पुराणों से ली गई थीं, और वे धार्मिक थीं। ये लोक नृत्य धार्मिक उत्सवों में किए जाते थे। लेकिन बाद में, उनकी धार्मिकता गायब हो जाती है, और यह देखा जाता है कि वे सांसारिक रूप प्राप्त कर रहे हैं। आधुनिक बंगाली जात्रा विभिन्न प्रकार के विषयों से संबंधित हैं।

कहना और परहेज करना: भाषण और वाक्पटुता, साथ ही पहेलियाँ और किस्से, भारतीय लोककथाओं का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। कहावतों से जनता के ज्ञान और ज्ञान को छोटे-छोटे सूत्रों या काव्य-पंक्तियों में व्यक्त किया जाता है। लोग अक्सर अपने रोजमर्रा के भाषण में शब्दों और वाक्यांशों का उपयोग करते हैं। उनमें सार्वभौमिक जीवन के अनुभवों का सार है। उनमें, कुछ शब्दों में, स्पर्श करने वाले सत्य सामने आते हैं। क्योंकि इस तरह के अनुभव एक ही संस्कृति के स्तर पर कई लोगों द्वारा साझा किए जाते हैं, इसी तरह की व्याख्या

दुनिया भर के लोगों के विभिन्न समूहों में पाई जा सकती है। भारत में भी, कुछ सामान्य अनुमति से प्रांतों की सामान्य बातें हल की जा सकती हैं। कई कहावतें मौसम पर निर्भर हैं। बारिश की कहावतों में भी समानता पाई जाती है, क्योंकि वे बारिश के पूरे नक्षत्रों में आम हैं।

भारत में, लोकगीत बहुत प्राचीन हैं और यह जानबूझकर परिपूर्ण और साहित्य से परिपूर्ण हैं। यह भारतीय ज्ञान का एक शक्तिशाली रूप है। दुर्गा भागवत नोट करती हैं कि विंटरनट्ज ने नोट किया है कि भारत ने दुनिया को अद्वितीय आदर्शों का निर्माण करने के लिए प्रेरित किया है, या तो सुखवंतमयी या सुभाषिता द्वारा। रामायण, महाभारत में कई लोकोक्ति-सूक्त और सुभाषित भी मिलते हैं। वाक्यांश 'तेल घी में घी घटपटे घी है ' - कहानी का आदर्श वाक्य है, यह एक कहानी से आता है। कोडी या धोखे और धोखेबाजी का पारंपरिक भारतीय समाज में एक वैध मूल्य भी है। शादी के मौके पर, दुल्हन एक दूसरे के साथ कुश्ती करते हैं। छोटा नागपुर में अभी भी ओरायन जनजातियों के बीच प्रचलित है, बंगाल में बूरी और हिंदुओं जैसे अनुसूचित जनजाति। इसके अलावा, मौत को टालने वाले सवाल भी हैं। वे महाराष्ट्र और भारत के अन्य हिस्सों में भी प्रचलित हैं। रहस्यमय और आध्यात्मिक धोखे की उत्पत्ति प्राचीन वैदिक पौराणिक कथाओं में पाई जाती है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में रहस्यमय और आध्यात्मिक धोखे भी पाए जाते हैं। धर्म में रहस्यमय विचारों की अभिव्यक्ति अक्सर धोखेबाजों द्वारा की जाती है। तो उस विचार की रहस्यमय भावना संरक्षित है। महाभारत में यह उल्लेख है कि धर्मराज ने कई कठिन प्रश्न पूछे और धर्म ने उन्हें सम्मोहक उत्तर दिए। बंगाल में प्राचीन और मध्यकाल में महायान बौद्ध संप्रदाय और साथ ही नाथ संप्रदाय के मनोगत प्रश्न को धर्मशास्त्रीय भाषा में धर्मशास्त्र का प्रसार करने के लिए डिजाइन किया गया था।

भारतीय लोककथाओं में, पारंपरिक सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब देखा जाता है। महिलाओं के विभिन्न रूपों का आविष्कार किया गया प्रतीत होता है। स्त्री के विभिन्न रूप जैसे दुल्हन, सास, माँ, ननद, देवर पारंपरिक लोकगीतों में पाए जाते हैं। ससुराल, ननंद-भावजय, आम तौर पर विरोधाभासी हैं। माँ और बहन का चित्रण उदात्त और प्रेममय है। लोक-साहित्य में, इतिहास के विवरण भी हैं। कुछ लोक गीत मुगल सत्ता के दमनकारी और अन्यायपूर्ण शासन को भी दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए, कुसुमावती के एक गीत में हिंदू महिलाओं के खिलाफ मुगल अत्याचार को दर्शाया गया है। राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल

आदि क्षेत्र की कई वीर गाथाएँ ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करती हैं। मराठी ओविवांग्यम में, विपरीत स्थिति के प्रभावी चित्रण अंग्रेजी राज्य में पाए जाते हैं। लोकवाना भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति के भौगोलिक संकेतक के रूप में भी आता है। गंगा, यमुना, सारयू, शोण आदि नदियां काशी, प्रयाग, अयोध्या, जनकपुर आदि स्थानों पर निर्देश मिलते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के पारंपरिक परिधान और वेश-भूषा भी उन भाषाओं के लोकगीतों में दिखाई देती हैं। रंगों की विविधता और बहुमुखी प्रतिभा स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, भोजपुरी लोक गीतों में, लाल और कुसुंबी विशेष रंगों में आते हैं। पंजाबी महिला को आसमानी नीला स्कर्ट पसंद है, इसे लोकगीतों में वर्णन से देखा जा सकता है। लोककथाओं के पेड़, बेलें, फल, फूल, भारतीय प्रकृति के सूचक संस्कृतियों के अनुरूप हैं, आम, अनार, महुआ, लिंब वृक्ष जीवन के साथी हैं। लोक-साहित्य में धार्मिक भावनाओं की झलक भी दिखाई देती है। गंगा और तुलसी इस भारतीय महिला के आदर्श देवता थे। उनके उल्लेख हर जगह पाए जाते हैं। मराठी लोक कथाओं में, पंढरपुर और विठोबा में विश्वास सबसे अच्छे तरीके से प्रकट होता है। लोक-साहित्य में आमतौर पर नैतिकता, विश्वास, सद्गुण और लोगों के कल्याण, दुनिया की इच्छा को दर्शाया जाता है।

भारत की विभिन्न भाषाओं के लोक-साहित्य में भी कुछ विशिष्ट विशेषताएं हैं। उदाहरण के लिए, सभी भारतीय भाषाओं में लोक-साहित्य में प्रेम एक सामान्य विषय है। केवल कुछ अपवाद मराठी में पाए जाते हैं। इस विशेषता को दुर्गा भागवत द्वारा इंगित किया गया है। इंडो-आर्यन भाषाओं में जैसे कि असमिया, बंगाली, गुजराती और हिंदी में, राधा-कृष्ण विषय में पाए जाते हैं, लेकिन दक्षिण भारतीय भाषाओं में लोक-साहित्य में यह बहुत प्रचलित नहीं है। केरल में, ईसाई और यहूदी मूल से उत्पन्न लोक-साहित्य प्रचुर मात्रा में है, लेकिन यह अन्य प्रांतों में बहुत कम पाया जाता है। मुस्लिम प्रभाव बंगाली, मलयालम और उर्दू लोककथाओं में पाया जाता है।

लोककथाओं का अध्ययन- परंपरा, नई दिशाएं, नया अनुसंधान - लोकगीत चिकित्सकों और प्रख्यात इतिहासकारों दोनों द्वारा एक लंबे समय से उपेक्षित साहित्य है। इसके अलावा, घोटालों ने लोक-साहित्य के पूर्ण दायरे को महसूस किए बिना केवल शाब्दिक शब्दों पर अत्यधिक जोर दिया है। यहां तक कि जो लोग लोककथाओं के चिकित्सक होने का दावा करते हैं, वे पूरी तरह से लोक-साहित्य के दायरे को नहीं समझते हैं, क्योंकि पारंपरिक कहानियों,

गीतों, कहानियों और कहानियों के संग्रह को लोक-साहित्य का आधार माना जाता है। अधिकांश गीतों को मानार्थ, मुफ्त के रूप में वर्णित किया गया है। इसका कोई इलाज नहीं है।

भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन की नींव- भारतीय लोक-साहित्य का वर्गीकरण और विषयगत निर्देश प्राचीन काल से पाए जाते हैं। टोल्कैपियन डिजाइन लोक-साहित्य के शुरुआती संदर्भ प्राचीन तमिल व्याकरण और टोल्कैपियन (तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व) के साहित्यिक ग्रंथों में पाए जाते हैं। इसमें लोक-साहित्य और वर्गीकरण के कुछ पहलुओं पर चर्चा करने का प्रयास है। कहानियों, दंतकथाओं, लोक गीतों आदि की परिभाषाएँ इसमें दी गई हैं।

यद्यपि भारतीय शोधकर्ताओं ने व्यवस्थित रूप से और बीसवीं शताब्दी में लोककथाओं की शुरुआत की, लेकिन भारतीय विज्ञान का अध्ययन दुनिया की पीठ पर शुरू हो चुका था। भारत में अंग्रेजी अम्मस की शुरूआत के बाद, सर विलियम जोन्स (1929-94) ने संस्कृत भाषा विज्ञान के साधन के रूप में भारतीय साहित्य और संस्कृति के बारे में दुनिया के चिकित्सकों में उत्सुकता पैदा की। तुलनात्मक धर्मशास्त्र और तुलनात्मक नैतिकता, इतिहास आदि द्वारा पीछा किया। छात्र विषयों के प्रति आकर्षित थे।

यूरोपीय शोधकर्ताओं द्वारा भारतीय संस्कृतियों, रीति-रिवाजों, देवताओं और भाषाओं का अध्ययन शुरू किया गया। इससे कलकत्ता में एक एशियाई सोसाइटी की स्थापना हुई। विलियम जोन्स सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के रूप में कलकत्ता गए। उन्होंने एशिया में प्राचीन कला, परंपरा, नैतिकता और विज्ञान पर शोध प्रकाशित करते हुए संस्थान का मुखपत्र भी शुरू किया था। इस उद्देश्य के लिए मुंबई में एक साहित्यिक समाज की स्थापना की गई थी। कर्नल जेम्स टॉड ने राजस्थान के इतिहास की प्राचीन वस्तुएं (खंड 1 , 19-21) लिखीं और इस क्षेत्र के लिए आधार तैयार किया।

रॉयल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना मुंबई में की गई थी। संस्थान के मुखपत्र द इंडियन एंटीकरी ने कई पहलुओं पर लोक-साहित्य पर शोध आलेख प्रकाशित किए। प्रारंभ में, लेखन नृविज्ञान और पुरावशेषों के तहत था। लेखन भारतीय लोककथाओं और प्राचीन मौखिक और लिखित साहित्य की कई जांचों में से एक था। कहानी कहने के साथ-साथ जादू-टोना, भूत-प्रेत लिखना, भस्मारती, नरभक्षण, देवता और जानवरों और वनस्पतियों की देवी, नदियों की पूजा, झीलें, जन्म संस्कार और मृत्यु संस्कार, शपथ, प्रायश्चित, प्रायश्चित्त जैसे

जादुई अभ्यास। भारतीय पुरावशेष एक आवधिक है, जो 1 से 1979 तक चलता है। यह समय-समय पर भारतीय लोक-साहित्य की बैठक सुनिश्चित करता है। इसके बंद होने के बाद 1949 से डॉ. डब्ल्यू आपका धन्यवाद गोड के संपादन के तहत न्यू इंडियन एंटीकरीनाम पत्रिका का प्रकाशन पुणे से होने लगा लेकिन वह भी कम उम्र का था।

इसके अलावा, बाम्बे एंथ्रोपोलॉजिकल सोसायटी के आवधिकों ने भी लोक-साहित्य के पोषण में योगदान दिया। इस संस्थान का उद्देश्य मानव विज्ञान के दृष्टिकोण से भारतीय लोक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना था।

एकाधिक आय सी वॉल्यूम ब्रिटिश अधिकारी स्वयं इस विषय में रुचि रखने लगे। उन्होंने भारत में विभिन्न जनजातियों के रीति-रिवाजों को देखकर भारतीय लोक संस्कृति पर नजर रखने का काम किया। उन्होंने विभिन्न जातियों के बारे में जानकारीपूर्ण पुस्तकें लिखीं। सर रिचर्ड मंदिर, क्रूक, एन्थोवेन के अधिकारी भारतीय लोककथाओं और संस्कृति में विशेष रुचि रखते थे। उन्होंने खुद लोकगीतों को विशेष रूप से सर रिचर्ड टेम्पल की पुस्तक लीजेंड्स ऑफ पंजाब में खोजा है। वह शास्त्रीय वर्गीकरण में लोककथाओं के संग्रह की जांच करने वाले पहले व्यक्ति थे। यह वर्गीकरण आज भी एक मार्गदर्शक है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भी भारतीय लोककथाओं के अध्ययन को बढ़ावा देने में एक मौलिक भूमिका निभाई। भारत के सभी क्षेत्रों से भाषाई सर्वेक्षण भारतीय लोककथाओं के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इसके अलावा, पूर्वी गोरखपुर से लोकगीत, सैम बिहारी फोकसंग, साम भोजपुरी फोल्क्सॉन्ग आदि लोक-साहित्य का संकलन और संपादन भी किया ।

मराठी लोकगीतों पर अंग्रेजी लिखने वालों में मैरी फ्रीयर का उल्लेख सबसे पहले किया जाना चाहिए। सर बार्टले फ्रेरे की मैरी बेटी, जो भारत पर ब्रिटिश शासन के दौरान मुंबई के कुछ समय के लिए राज्यपाल थीं, उनके भाई, अन्ना लिबर्टा डिसूजा, कलकत्ता के मूल निवासी हैं। उसने मैरी को कुछ मराठी लोकगीत सुनाए और मैरी ने इसे ओल्ड डेक्कन डेज (2) के नाम से जाना। अंग्रेजी में लाई गई इन मराठी लोक कथाओं ने यूरोप में भारी लोकप्रियता हासिल की। मैरी की पुस्तकों का जर्मन, हंगेरियन, डेनिश जैसी यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद किया गया और इस तरह मराठी लोककथाओं का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। इन लोक कथाओं का हिंदी और गुजराती में भी अनुवाद

किया गया था। नासिक के जिला कलेक्टर, जिन्हें सशस्त्र क्रांतिकारियों ने गोली मार दी थी, जैक्सन ने मराठी और गुजराती लोककथाओं का भी अध्ययन किया। कोंकण के लोकगीत उनकी किताब 1949 में प्रकाशित हुई थी। इनमें त्योहार, अनुष्ठान आदि शामिल हैं। विषयों से परामर्श किया जाता है और संबंधित किंवदंतियों को शामिल किया जाता है। बॉम्बे का लोकगीत (1949) ई. सरप्राइज की किताब जैक्सन की किताब का एक नया संस्करण है, एम कालेलकर की इस पुस्तक का अनुवाद 1959 में प्रकाशित हुआ था। किंकैड की डेक्कन नर्सरी टेल्स (1919) में, मराठी कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया है।

शारचंद्र रॉय के संपादन के तहत और ऊपर पश्चिमी विद्वानों की मदद से, 1949 में भारत में मानव, मानवशास्त्रीय पत्रिका शुरू हुई। लेकिन उन्होंने केवल अनुवाद किया। हालांकि, प्रांतीय लोकगीत-संग्रह ने इसे प्रोत्साहित किया।

नृविज्ञान के तहत संस्कृति और लोक-साहित्य के संदर्भ में, पश्चिमी शोधकर्ताओं ने हमेशा महसूस किया है कि भारत एक समृद्ध भूमि है। उनके प्रयास सैद्धांतिक विश्लेषण के हैं। भारतीय छात्र, हालांकि, अभी भी संग्रह की भूमिका में बहुत अधिक शामिल हैं। कुछ ने कुछ हद तक आत्मनिर्भर, अपवित्र, भावुक भूमिका निभाई है। लोक-साहित्य के पश्चिमी अध्ययनों के विभिन्न संप्रदाय हैं। समाजशास्त्र, नृविज्ञान, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान आदि। ये चिकित्सक विभिन्न संप्रदायों के दृष्टिकोण से काम करते दिखाई देते हैं।

महाराष्ट्र में भी, लोक-साहित्य समिति की स्थापना स्वातंत्र्योत्तर काल में हुई थी। सी कार्वे इसके पहले अध्यक्ष थे। इस समिति ने महाराष्ट्र में लोक-साहित्य को संकलित करने के लिए व्यापक प्रयास किए हैं। हालाँकि, ये संकलन बड़े पैमाने पर कहानियों और गीतों के संग्रह हैं। हाल ही में महाराष्ट्र में त्योहारों के बारे में जानकारी एकत्र करने का प्रयास किया गया है। लेकिन समिति ने अभी तक लोक-साहित्य के सैद्धांतिक अध्ययन का प्रयास नहीं किया है। समिति ने लोक-साहित्य की पच्चीस से अधिक लघु पुस्तकें प्रकाशित की हैं और आगे के अध्ययन के लिए बहुत सारी सामग्री एकत्र की है। 1959-1 में, कुछ नए शोधकर्ताओं ने डॉ. प्रभाकर मंडे ने संयुक्त रूप से 'लोक-साहित्य अनुसंधान बोर्ड' का आयोजन किया इस संगठन को शुरू किया। पहले से ही एक चिकित्सक लोक-साहित्य में अभ्यास और शोध कर रहा है। तब से हर साल, लोक-साहित्य अनुसंधान बोर्ड महाराष्ट्र में विभिन्न स्थानों पर छात्रों का

एक सम्मेलन आयोजित करता है। लोकगीत चिकित्सक जो औपचारिक-अनौपचारिक तरीके से अध्ययन करते हैं, वे एक साथ आते हैं और शोध पत्र प्रस्तुत करते हैं।

पिछले पंद्रह वर्षों से, महाराष्ट्र के विभिन्न विश्वविद्यालयों से मराठी साहित्य के छात्रों के लिए लोक-साहित्य के विषय को पाठ्यक्रम में नामित किया गया है।

लोक-साहित्य : परम्परा और प्रयोग

लोक-साहित्य ऐसी संश्लिष्ट रचना है जिसमें शिष्ट साहित्य-सदृश समग्र विधाओं को परिभाषित कर निरखना-परखना बाह्य दृष्टि से भले उचित हो, आंतरिक दृष्टि से कदापि संभव नहीं हैं। यह जन-मन-जीवन-अनुभव का प्रारूप ही लोक द्वारा प्रदत्त एक सूत्र है, जो प्रगीत-तत्त्वों से मिलकर लोकगीत तथा कथा से जुड़कर लोकगाथा बनती है। इसी तरह संवादों में ढलकर लोकनाट्य और किस्सा-गोई का वैशिष्ट्य लेकर लोककथा बनती है। इसके बावजूद वह भावनाओं व विचारों के प्रवाह में एक-दूसरी लोकविधाओं को स्पर्श करती है। यही कारण है कि लोककथा, लोकगाथा या लोकनाट्य में विवाह का संदर्भ आने पर विवाह-गीत, प्रणय संपादन में ददरिया, विप्रलम्भ की स्थिति में सुवा-गीत, युद्ध के गीतों में पंडवानी आदि अन्यान्य गीतों व लोक छंदों का आगमन होता है। लोक-साहित्य का लोक अभिप्राय ही उसे शिष्ट साहित्य से पृथक करता है, जो आंतरिक दृष्टि से एक होकर सार्वदेशिक तथा आंचलिक रंगों के प्रभाव से क्षेत्रीय बन जाता है। यही लोक अभिप्राय किसी लोक-साहित्य की आत्मा है जिनका तुलनात्मक अध्ययन लोक-साहित्य के मूल स्वरूप को उद्घाटित करने के साथ उनके युगानुरूप परिवर्तन के इतिहास को प्रस्तुत करती है।

लोक-साहित्य परंपरा पोषक और संस्कृति की संवाहक होता है। इसमें युगानुरूप परिवर्तन बहुत धीमी गति से और आंशिक ही होता है। इसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखकर यदि प्रयोग किए गए तो वे लोक-स्वीकृत और शिष्ट-समाहत हो सकते हैं। कुछ समीक्षक लोक-साहित्य को मूलरूप में विद्यमान होने के पक्षधर है। इसके अनुसार इनमें परिवर्तन या प्रयोग उसकी विकृति के परिचायक हैं लेकिन युगाग्रह और विकास को महत्व देने वाले परिवर्तन एवं प्रयोग के प्रतिष्ठापक हैं।

लोक-साहित्य लोक अर्जित भावनाओं के सरल-सहज उदगार हैं। अत: उनमें परंपरा स्वत: संपृक्त हैं। शिष्ट साहित्य में परंपरा कृत्रिम और अपेक्षाकृत आरोपित होती है, जबकि लोक-साहित्य में यही इसका प्राण है। यही कारण है कि इसमें कवि का श्रेय एक व्यक्ति न लेकर सभी लोकगायक ग्रहण करते हैं और इसका प्रत्येक गायक कवि नहीं, लोकगायक या लोकगीतकार कहलाता है। इसी आधार पर यह भाषा, बोली, जाति, वर्ण,पद के भेद को दूर करने में सक्षम और लोक को लोक बनाये रखने तथा समाज के प्रत्येक मनुज को समरस का सिद्धान्त संस्कार के रूप में प्रदान करने का संयोजन करता है। ये लोकगीत ही हमारे जीवन के अलिखित, व्यावहारिक शास्त्र हैं, जो परंपरा से प्रचलित प्रतिष्ठित हैं। आज इसकी उपेक्षा के कारण ही मनुज लोक या समाज से हटा है, संस्कृति और भूमि से कटा है। ऐसे संक्रमणकाल में लोक-साहित्य की वापसी किसी न किसी बहाने लोग स्वीकार रहे हैं और प्रयोग के आधार पर ही सही, इसकी उपयोगिता को ग्रहण कर रहे हैं। छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य के आधार पर समय-सीमा को ध्यान में रखते हुए सूत्र रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों ने परंपरा, मर्यादा, नियम-अनुशासन के जो संस्कार दिए हैं वे अद्वितीय हैं। बेटी-बिदा-प्रसंग में पुत्री की मां, पिता,भाई और भाभी की वेदना को माप लिया गया है। माता की ममता असीम हैं अत: उसके रूदन से नदी बहने लगी। पिता की पीड़ा अपेक्षाकृत अल्प है, अत: उनके अश्रु से तडाग का निर्माण हुआ। भाई की भारवाहक व्यथा से डबरे भर गये लेकिन परायी घर से आयी भौजी के नेत्र सजल भी नहीं हो सके-

दाई के रोये नदिया बहत हैं, ददा के रोये तलाव।
भाई के रोये डबरा भरत हैं, भौजी के नयन कठोर।।

शिष्ट काव्य में पीड़ा को मायने और मर्यादा को मथकर संस्कार देने की ऐसी लोकोपयोगी शिक्षा अलभ्य है। अधोलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है कि बहन कटि को कसकर रो रही है जबकि भाई ग्रीवा को ग्रहण कर विलाप कर रहे हैं। यदि पिता मुख को ढाँपकर रूदनकर रहे हैं तो माँ गाय की तरह रंभाकर अर्थात् ''बोम-फारकर रो रही है-

कनिहा पोटार के बहिनी रोवय, गर पोटार के भाई।
ददा बपुरा मुंह छपक के. बोम फार के दाई।।

यहाँ लोकगीतकार ने भाभी को हाशिये पर भी नहीं रखा है। रूदन की माप के आधार पर पीड़ा को प्रस्तुत करना लोकगीतकार को जितना अभीष्ट है, उतना

ही वह वाणी के आधार पर भी व्यथा को व्यक्त करने और मापने का आग्रही है। अधोलिखित पंक्तियों में वह उद्घाटित करता है कि माँ बेटी को रोज आने, पिता छह माह में तथा भैया वर्ष में एक बार तीज-पर्व के अवसर पर लेने आने का तथ्य निवेदित करते हैं जबकि भौजी ननद को परायी होने का एहसास दिलाती हुई कहती है कि अब उसका इस घर में क्या काम है-

दाई कहे रोज आबे बेटी, ददा कहै छयमास हो।
भइया कहै तीजा-पोरा म, भौजी कहे कौन काम हो।

परम्परा- ग्रथित लोकगीत प्रकृति से प्रसूत और भूमि से उद्भूत है। यही कारण है कि इनके उपमान और प्रतीक अत्यन्त प्रभावी तथा समरस होते हैं। अधोलिखित छत्तीसगढ़ी सुवा-गीत में लोक गीतकार की उद्भावना हैं कि सुग्गे की चोंच टेढ़ी लाल कुंदरू फल सदृश है जिस पर मसूर की दो दालों की दो आँखें हैं। तन हरे भुट्टे की तरह है-

चोंच तोर दिखत है, लाली-लाली कुंदरू,
रे मोरे सुवा, आँखी दिखे मसूरी के दार।
जोंधरी के पाना साँही,डेना-संवारें,
रे मोरे सुवा, सुन लेंबे बिनती हमार।।

नये उपनायों व प्रतीकों की शक्ल में कहीं एक प्रयोगवादी कविता पढ़ी थी। काली-कलूठी स्त्री की मोटी होंठ पर लिपिस्टिक को निखारकर कवि ने लिखा है--

तेरी काली-काली मोटी-मोटी
सुघर होंठ पर लिपिस्टिक ऐसी शोभा देती है
जैसे कोयले की खान में आग की ज्वाला सुलग गई हो।

उल्लेखनीय है कि कोयले की खान में ज्वाला सुलगती देखकर एक काली महिला की मोटी होंठ पर लिपिस्टिक के लेप का बिम्ब नहीं उभरता जबकि उपर्युक्त छत्तीसगढ़ी, लोकगीत के उद्धरण में लाल कुंदरू फल, मसूर की दाल और भुट्टे के संयोजन से सुग्गा तैयार हो जाता है। प्रयोगवाद के नाम पर प्रस्थापित आज कितने उपनाम व प्रतीक समरस हैं, इसके विपरीत नाम व यश लिप्सा से परे ये लोकगीतकार अर्थात् निरक्षर भट्टाचार्य अनेक आंचलिक उपनाम व प्रतीक देकर लोकमानस में प्रतिष्ठित हैं। लोकगीतों में संस्कार रचे-बसे हैं जबकि शिष्ट साहित्य में यही संस्कृति से जुड़कर स्थायित्व प्राप्त करते हैं। छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में व्यवहृत दो संस्कार-संपन्न लोकोक्तियों के उदाहरण से

अपनी बात स्पष्ट करना चाहूंगा। हिन्दी में प्रचलित लोकोक्ति अंधा कानून यदि सचमुच अंधा होता तो अंधा पीसे कुत्ता खाये की तरह धनी और गरीब दोनों के लिये सहायक होता। छत्तीसगढ़ी मड़ई गीत में मुझे एक मुहावरा मिला-कनवा हे कानून अउ भैरा हे सरकार ग। इसमें काना-कानून मुहावरा प्रयुक्त है, जो सार्थक है। पूँजीपतियों के लिए कानून का एक नेत्र खुला और गरीबों के लिये इसकी एक आंख बंद है। इसी तरह काला अक्षर भैंस बराबर लोकोक्ति भी उचित जान नहीं पड़ती क्योंकि भैंस और अक्षर रंग साम्य ही रखते हैं जबकि भैंस का हितैषी निरक्षर है। छत्तीसगढ़ी में समाहत काला अक्षर साँप बराबर अधिक उपयुक्त है। अक्षर और सर्प दोनों टेढ़े-मेढ़े हैं। अशिक्षित सर्प की तरह प्रतीत होने वाले अक्षरों से बिदकते हैं। समाचार पत्रों में हम सब छोटे अक्षर से लेकर मोटे अक्षर तक रोज देखते-पढ़ते हैं। छोटे अक्षर सबसे लघु सर्प अंधा साँप की मोटाई वाले तथा सबसे बड़े अक्षर अजगर सर्प की मोटाई वाले ही दृष्टिगत होते हैं। अक्षर और सर्प में जो साम्य है, उसे छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में संरक्षित लोकोक्ति अक्षुण्ण रखती है जबकि ''आंख के अधूरे और गांठ के पूरे हम शिष्ट साहित्य सर्जक और तथाकथित समीक्षक होकर भी संस्कार विपन्न भ्रम के भंवर में फंसे हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिससे यह प्रमाणित होता है कि परंपरा पर आधारित लोकगीत अथवा लोकवार्ता की समग्र लोकविधाएं, जिजीविषा की उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है क्योंकि उन्हें मालूम है कि जब तक लोक रहेगा, लोक-साहित्य जीवित रहेगा।

लोककलाएं प्रदर्शनकारी नहीं होती वे लोक के लिये अर्पित-समर्पित और सहज निर्मित स्फुरित लोकरचना होती है, जो संस्कार व वातावरण के अनुरूप सहज-अभिव्यक्त होती है। इधर लोक कलाओं को प्रदर्शन और विचित्रता-निदर्शन का पर्याय मानकर उसे धिकृत-विकृत करने का जो उपक्रम किया जा रहा है, वह क्षम्य नहीं कहा जा सकता। यहां प्रदर्शनकारी लोककलाओं से आशय उसके जन-मन के मध्य लोकप्रिय होने और व्यवसाय के रूप में इसी पीढ़ी दर पीढ़ी संचालित रखने से है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यवसाय समझकर कलाकार इस क्षेत्र में अग्रसित हों और लोकलाओं को प्रदर्शनकारी बना दें। लोक सांस्कृतिक कार्यक्रमों का महत्वपूर्ण संयोजन प्रदर्शन से संपृक्त होकर प्रकारान्तर में लोकनाट्य के प्रभाव दबाव को ही व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ नाचा या गम्मत लोकनाट्य है, लेकिन लोककीर्तन की परंपरा में अवस्थित लोकगाथा पंडवानी भव्य मंचों में जाकर लोकनाट्य से संपृक्त हुआ तद्नुरुप पंडवानी-गायक

(गायक और गायिका भी) अभिनय के द्वारा हाव-भाव की विविध अभिव्यक्ति करने लगे। इस तरह लोकगाथाओं पर अभिनेयता का आकर्षण बढ़ा। इसी भांति छत्तीसगढ़ी लोक गाथा लोरिक चंदा में एक अभिनय अथवा विविध पात्रों के द्वारा लोकगाथा के साथ नाट्य प्रस्तुति का प्रभाव उसकी प्रदर्शनीयता की ही प्रतीति है। इसके विपरीत ढोला मारू, सरवन, गोपी-चंदा आदि लोकगाथा के रूप में अक्षुण्ण है, लेकिन निकट भविष्य में लोकनाट्य से ओत-प्रोत होकर यह भी प्रदर्शनकारी होंगी, ऐसा विश्वास बनता है। लोरिक चंदा को जहां प्रदर्शनकारी लोकनाट्य का स्वरूप देते हुए श्री लक्ष्मण चंद्राकर ने नव्य प्रयोग किया, वहीं उसकी प्रारंभिक प्रस्तुति को अक्षुण्ण रखते हुए श्रीमती रेखा निषाद व सोनसागर चनैनी पाटी कचांटुर ने साभिनय प्रस्तुति के द्वारा इसका मनमोहक प्रदर्शन किया है। पंडवानी की बेदमती शाखा जहां प्रदर्शनकारी लोककला की श्रेणी में आकर भी लोककीर्तन व लोकगाथा के सन्निकट है, वहीं इसकी कापालिक शाखा लोकनाट्य के अधिक समीप है। प्रथम शैली के प्रमुख लोककलाकारों में श्री झाड़ूराम देवांगन, पूनाराम निषाद आदि है, जबकि दूसरी शैली में पद्मश्री तीजनबाई प्रसिद्ध है। भरथरी व ढोला की लोककथात्मक प्रस्तुति जहां श्रीमती सूरूज बाई की विशिष्टता है, वहीं उसकी लोकनाट्य प्रस्तुति श्रीमती रेखा निषाद की निजता है।

लोकनाट्य की भाव-भूमि पर छत्तीसगढ़ी लोककलाएं प्रदर्शनकारी ही सिद्ध हुई हैं। यदि श्री हबीब तनवीर के इस प्रयास ने उन्हें अंतराष्ट्रीय ख्याति प्रदान की तो श्रीरामचंद्र देशमुख को चंदैनी गोंदा कारी, से देशव्यापी प्रसिद्धि मिली। एक रात का स्त्री राज लोकनाट्य डिंडबा नाच का प्रयोगजन्य लोककला-रूप है जिसे श्री रामचंद्र देशमुख ने प्रस्तुत किया। यह लोकनाट्य महिलाओं तक सीमित था। इसे जन-जन तक प्रदर्शित करने का उपक्रम अभिनंदनीय है। अरे मायावी सरोवर में डॉ. शंकर शेष ने छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का प्रयोग किया है, लेकिन उसका पर्यावरण प्रस्तुत करके उसे प्रस्तुत किया है। यही प्रयोग ग्राह्य है, जैसे कि भारत: एक खोज दूरदर्शन धारावाहिक में पद्म श्री तीजन बाई के पंडवानी का प्रयोग अत्यंत प्रभावी है। श्री हबीब तनवीर के चरणदास चोर और आगरा बाजार को लोक-साहित्य का समावेश अर्थात् लोककथा और लोकगीत के अनुरूप परंपरा और परिवेश के परिपालन के कारण ही सफलता मिली है, लेकिन यदि गांव के नाम ससुराल, मोर नाम दामाद में वे पिता द्वारा पुत्री- विक्रय की प्रथा की चर्चा करते हैं तो जन-मन इसे अंगीकार नहीं करता।

इसी भांति सुवा गीत में बाह्य प्रयोग एक बार स्वीकृत है, लेकिन उसे द्रुत गति से गाकर और शास्त्रीयता का पुट देकर आकर्षक ढंग की प्रस्तुति का दावा करने वालों को यह कहने में संकोच नहीं है कि लोकगीत में लोकसंगीत का रहना और लोकधुन विशेष के कारण उसकी पहचान है। प्रत्येक लोकगीत लोकछंद है जिन पर कविता लिखकर आंचलिक कवि लोकप्रिय हो सकता है। देश की अनेक भाषा बोलियों के कवि गायक लोकगीत-शिल्प विधि को आधार मानकर अपनी पहचान बना चुके हैं लेकिन इसका परिष्कार और ताम-झाम के हिसाब से आधुनिक रूप में प्रस्तुति का प्रवास उचित नहीं होगा।

2

लोक-साहित्य के विविध रूप

अभी तक हमने लोकवार्ता के रूप का अध्ययन किया है और उसके साथ लोक-साहित्य के संबंध कर अध्ययन किया है। अब लोक-साहित्य के विविध रूपों पर हक्पात करना अप्रासंगिक न होगा। मोटे तौर पर हम इस साहित्य को तीन रूपों में प्राप्त करते हैं। जिसमें पहला-कथा, दूसरा-गीत, तीसरा-कहावतें आदि। लोककथाओं की विभेदता भी तीन रूपों में मानी जाती है- धर्मगाथा,लोकगाथा तथा लोक कहानी। धर्मगाथा (माईथालॉजी) पृथक अध्ययन का विषय है। शेष कथा के दो भाग रह जाते है- लोकगाथा तथा लोक कहानी। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इन दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्त्व स्वीकार करते हुए लोक-साहित्य को चार रूपों में बांटा है। जिसमें पहला-गीत, दूसरा-लोकगाथा, तीसरा-लोककथा तथा चौथा-प्रकीर्ण साहित्य जिसमें अवशिष्ट समस्त लोकाभिव्यक्ति का समावेश कर लिया गया है।

वैसे तो धर्मगाथाएँ पृथक अध्ययन का विषय हैं किन्तु लोक-कहानी और धर्मगाथा में जो विशेष अन्तर आ गया है उसे समझ लेना अहितकर न होगा। धर्मगाथा अपने निर्माण काल में एक सीधी-सादी लोक-कहानी ही होती है, परन्तु उस कहानी में धर्म की एक विशेष पुट लग जाती है, जो उसे लोक-कहानी के वास्तविक आधार से पृथक कर देती है। डॉ. सत्येन्द्र ने इस ओर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि धर्मगाथा स्पष्टत: तो होती है एक कहानी पर उसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो उसके

सृष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट होता है। ये धर्म गाथाएँ हैं तो लोक-साहित्य ही, किन्तु विकास की विविध अवस्थाओं में से होती हुई वे गाथाएँ धार्मिक अभिप्राय: से संबद्ध हो गयी हैं। अत: लोक-साहित्य के साधारण क्षेत्र से इनका स्थान बाहर हो जाता है और यह धर्मगाथा संबंधी अंश एक पृथक ही अन्वेषण का विषय है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि क्वीन ऑफ दि एअर' में जॉन रस्किन ने धर्मगाथा की मीमांसा देते हुए लिखा है कि यह अपनी सीधी-सादी परिभाषा में एक कहानी है जिससे एक अर्थ संपृक्त है और जो प्रथम प्रकाशित अर्थ से भिन्न है।

लोकगाथाएँ (अवसाद, किस्से या साके) वे काव्यमय कहानियाँ हैं जिनका आधार इतिहास है अथवा जिन्हें कालक्रम से ऐतिहासिक महत्व हासिल हो चुका है। लोक मानस की वे घटनाएँ जो कोरी कल्पना-जन्य हैं वह आगे चलकर ऐतिहासिक रूप प्राप्त कर जाती हैं। जिन जातियों का मानसिक विकास नहीं हुआ है उनमें थोड़े से चमत्कारपूर्ण कार्य करने वाले व्यक्ति युग-पुरूष अथवा ऐतिहासिक पुरूष की नाई पूजे जाते हैं। ठीक इसी प्रकार का एक किस्सा (अवदान, गाथा) हरफूल जाट जुलाणी वाले का है जिसने अपने जीवन की बाजी लगा कर बधिकों से (कसाइयों से) गायें छुड़ा ली थीं। आज भी गोमाता के पुजारी प्रदेश हरियाणा की साधारण जनता हरफूल जाट के वीर रसात्मक किस्सों को गा-गाकर आनन्द मनाती है। अन्य जनपदीय जातियों में भी ऐसे अनेक किस्से आपको मिल जायेंगे।

किस्सों की परख से यह स्पष्ट है कि इनमें इतिहास के अवशेषों को ही मरने से नहीं बचाया गया है पर साम्प्रतिक पुरूषों के किस्से भी चमत्कृत रूप में मिले हैं। अत: साके प्राचीन प्रवीरों और सिद्ध महात्माओं के ही हों ऐसी बात नहीं है, ये साके सामयिक पुरूष संबंधी भी हो सकते हैं, बल्कि होते भी हैं। यथा-'किस्सा हरफुल जाट जुलाण का' इन नये व्यक्तियों के संबंध में बड़ी अद्‌भुत कल्पनाएँ कर ली जाती हैं। सर आर. सी टेम्पल ने 'लीजेंड्स ऑफ दि पंजाब' में इन किस्सों को छ: भागों में बाँटा है। इन छ: चक्रों में से एक चक्र उन कथाओं का भी है, जो स्थानीय वीरों से संबंध रखती हैं।

हमने लोक गाथाओं को अवदान, साका, राग या किस्सा के नाम से अभिहित किया है। इस साहित्यिक विद्या का एक नाम राजस्थानी में ख्यात भी प्रचलित है। ये ख्यातें रासो से भिन्न वस्तु हैं। रासो साहित्यिक वीर कथाएँ हैं और ख्यातें मौखिक कथाएँ हैं। ये लोक गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं। एक प्राचीन

पुरूषों की शौर्य की कहानियाँ हैं जिन्हें वीरकथा कहा जा सकता है। इन्हें ही 'पंवारा' भी कहते हैं यथा 'जगदेव का पंवारा।' इनमें पुराण पुरूषों का अस्तित्त्व निर्विवाद मान लिया जाता है। दूसरे-साके में ये उन पुरूषों के शौर्य से सम्बन्धित हैं जिनके प्रति इतिहास साक्षी है। साके में जीवन तथा शौर्य का विस्तार अपेक्षित है।

लोककथा निस्संदेहात्मकतया लोकगाथा से भिन्न वस्तु है। जो विद्वान इन दोनों को एक लोक कहानी के ही लघु और विशाल रूप कहते हैं उन्होंने उनके मर्म को पहचानने का प्रयास नहीं किया। लोक-साहित्य के ये दोनों रूप आपस में भिन्न हैं। लोक कथाओं में कहानियों के दोनों तत्त्व-मनोरंजन एवं शिक्षा पाये जाते हैं। जो कहानियाँ केवल शिक्षा के लिए ही निर्मित हुई हैं उनके लिए अलग नाम भी दिया गया है। इन कहानियों को भारतीय साहित्य में तंत्राख्यान या पशु-पक्षियों की कहानियों का वर्णन किया गया है। अंग्रेजी में ऐसी कहानियों का नाम फेबिल दिया गया है।

"काल्पनिक कथाएँ, वास्तव में, वैसी नहीं जैसी दिखाई देती हैं। हमारे धर्मोपदेष्टा चूहे और मृगशावक भी हो सकते हैं। हम उपदेश सुनते-सुनते ऊँघने लगते हैं, किन्तु शिक्षाप्रद कहानियों को प्रसन्नतापूर्वक पढ़ते हैं और वर्णन का खूब आनन्द लेते हैं।" भारतीय कथा साहित्य में इस प्रकार के आख्यानों की कमी नहीं है। विष्णु शर्मा का पंचतंत्र और हितोपदेश शशश्रृगाल-काको लूक के मध्य चलने वाले जीवनोपयोगी आख्यान ही तो हैं। भारत के ये आख्यान संसार के श्रेष्ठतम फेबिलस् में से हैं। इनकी यही विशेषता है कि इनमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा अवश्य मिलती है।

यहाँ पर इतना और ध्यान दे लेना चाहिए कि प्रत्येक वह कहानी जिसमें पशु-पक्षी किसी भी रूप में आये है तंत्रमूलक अथवा नीतिमूलक कहानी नहीं कहला सकती। फेबलस् वे ही कहानियाँ हैं जिनमें नीति बतलाई गई है अथवा कोई सुनिश्चित उपदेश दिया गया है। बौद्ध जातकों में आई हुई वे पशु-पक्षी संबंधी कहानी कदापि तंत्राख्यान नहीं कहलायेंगी। कारण कि वे धर्मभावना को जागृत करके चुप हो जाती हैं और उनका आदर धर्म-श्रद्धा से होता है। यही स्थिति वेदों में मिलने वाली उन कहानियों की है जिनमें पशु-पक्षियों का नाम आया है।

लोक-साहित्य के कथा भाग पर विचार करने पर लोक गीत और लोक कहावतें, पहेलियाँ आदि रहती हैं। लोक गीत लोक मानस के वे अजस्त्र एवं

निछल प्रवाह है जिनका प्रतिभा के द्वारा विभिन्न अवसरों पर निर्माण होता है एवं गान होता है। संक्षेप में लोकगीत लोक द्वार लोक के लिए गाया गया गीत होता है। लोक गीतों की संख्या उतनी हो सकती है जितने जीवन के पहलू हैं।

प्रकीर्ण साहित्य में उस समस्त लोकाभिव्यक्ति का समावेश होता है, जो लोककथा, लोकगाथा और लोकगीत की परिधि से बाहर पड़ जाती है। इस प्रकार इनमें लोक के वे सभी अनुभव जो समय-समय पर होते हैं, आ जाते हैं। पहेलियाँ, सूक्तियाँ, बुझौबल, कहावतें, बालकों के खेलकूद के वाणी विलास आदि सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इनका विवेचनात्मक वर्णन भी यथास्थान दिया गया है।

लोक-साहित्य की विशेषताएँ -लोक-साहित्य जिसके रूपादि का ऊपर वर्णन हुआ है उसकी विशेषताओं पर दृकपात करना असमीचीन न होगा। लोक-साहित्य को कुछ विद्वानों ने लोक श्रुति (वेद) कहा है। वेद का नाम श्रुति इसी विशेषता के कारण पड़ा है कि यह शिष्य परंपरा श्रुतिबल से चलता आया है। लोक-साहित्य भी इसी कर्ण परम्परा से आगे बढ़ता है। वह दादी से पोती तक, नानी से धेवती तक श्रुति मार्ग से आया है। यही इसकी प्रथम एवं प्रमुख विशेषता मानी जाती है। इसके विपरीत प्रणीत साहित्य मौखिक परम्परा की अपेक्षा लेखनी परम्परा पर गर्व करता है। यदि लेखबद्धता का वह गौरव लोक-साहित्य को मिल जाये तो वह एक प्रकार से वह निष्प्राण हो जायेगा। लिपि का प्रसाद भले ही गीतों, गाथाओं, कथा-कहानियों को सुरक्षित रख ले परन्तु उनकी अनुप्राणिकाशक्ति उसी क्षण नष्ट हो जाती है जब कि वे लेखनी की नोक पर सवार होकर कागज की भूमि पर उतरना आरंभ करते हैं। उनको सुरक्षा, सौन्दर्य एवं सम्मान भले ही मिल जाये किन्तु उनमें वह स्वाभाविक उन्मुक्त प्रवृत्ति नहीं रहती जिसमें वे जन्में हैं, पनपे हैं और पुष्ट हुए हैं। वह गमले के पौधे की भाँति हरा-भरा रहता हुआ भी अशक्त और भविष्यत् की उन्नति से विमुख रहता है। फ्रेंक सिजविक के ये शब्द कितने तथ्यपूर्ण हैं कि लोक-साहित्य का लिपिबद्ध होना ही उसकी मृत्यु है। वस्तुतः लोक-साहित्य की मौखिकता ने ही उसे व्यापकता एवं अनेक रूपता प्रदान की है।

इसी बात को प्रो. किटरेज ने 'इंगलिश और स्काटिश बैलेड्स' की भूमिका में इस प्रकार कहा है- लोक-साहित्य का शिक्षा से कोई उपकार नहीं होता..... जब कोई जाति पढ़ना सीख लेती है, तो सबसे पहले वह अपनी परंपरागत गाथाओं का तिरस्कार करना सीखती है। परिणाम यह होता है कि जो

एक समय सामूहिक जनता की संपत्ति थी वह अब केवल अशिक्षितों की पैतृक संपत्ति मात्र रह जाती है।

एक दूसरी विशेषता, जो लोक-साहित्य के पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, वह है उसकी अनलंकृत शैली। शिष्ट साहित्य में सालंकारता के प्रति विशेष आग्रह होता है। यत्र-तत्र अनलंकृत भी क्षम्य है-'अनलंकृतिः पुनः क्वापि' (मम्मट-काव्य प्रकाश, काव्य का लक्षण) पर लोक-साहित्य में बनावट, सजावट, कृत्रिमता और अलंकरणप्रियता का आग्रह नहीं है। यह तो उस वन्य कुसुम के सदृश है, जो बिना संवारे हुए भी अपनी प्राकृतिक आभा से दीप्तिवान है। इसमें नैसर्गिक रूक्षता (खुरदरापन) है किन्तु है एक लावण्य एवं सौन्दर्य से संयुक्त। सालंकार काव्य से लोक-गीतों का वैशिष्टय प्रदर्शित करते हुए पं. रामनरेश त्रिपाठी के ये शब्द चिरस्मरणीय रहेंगे-'ग्राम-गीत और महाकवियों की कविता में अंतर है।'-ग्राम-गीतों में रस है, महाकाव्य में अलंकार। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं, इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छंद नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है, -'कितने सार्थक हैं त्रिपाठी जी के ये शब्द। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इनमें दंडी का पद लालित्य, भारवी का अर्थ-गौरव और कालिदास की अनूठी उपमाएँ न देखने को मिलें-बेशक, पर इनमें रस का एक पारावार लहरा रहा है, जो सहृदय संवेद्य है।'

सादगी लोक कविता का सर्वस्व है। साहित्यिक कविता में ऊहा और कल्पना के वे रंग हैं, जो कालान्तर में छूछे हो जाते हैं। लोक कविता अपने नैसर्गिक रंग में मानव के उषाःकाल से जीवित है और जीवित रहेगी। इस काव्य क्षेत्र में अलंकार बहिष्कार की शपथ नहीं ली गई है। ये तत्त्व अस्पृश्य एवं त्याज्य नहीं ठहराये गये हैं। अतः रीत्यलंकार पारखी अनावश्यक रूप से निराश व चिंतित न हों। उन्हें स्थान-स्थान पर बड़े भव्य एवं सुन्दर अलंकार चारों ओर बिखरे मिलेंगे। हमारा कहने का अभिप्रायः केवल यह है कि लोक-साहित्य में शिष्ट साहित्य की भाँति रीत्यलंकारों के प्रति आग्रह नहीं होता।

लोक-साहित्य की तीसरी प्रमुख विशेषता है रचयिता और रचना काल का अज्ञात होना। दादी नानी से चली आती हुई दंतकथाओं और गीतों आदि की परंपरा किस युग से चली और किस कृति के पुण्यों का परिणाम है, इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। यों तो सभी रचनाएँ किसी न किसी व्यक्ति की प्रतिभा का प्रसाद हैं किन्तु उसका व्यक्तित्त्व इस परंपरा में अज्ञातावस्था में है। वास्तव में,

इन गीतादिकों के कर्त्ता वे निरीह जन हैं जिन्होंने अपने नाम और ग्राम की चिंता न करते हुए समाज के लिए अपनी प्रतिभा की भेंट दी है। कालक्रम से अज्ञातनामा व्यक्ति विशेष की रचना में समुदाय ने भी अपना योगदान दिया और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वह वस्तुतः समुदाय की है और समुदाय के लिए है। समुदाय का योग मिलना आवश्यक है। इसी से कविता के आरंभ पर विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने कहा है कि आदि में कविता समस्त समुदाय के प्रयत्नों से बनी। किसी ने कुछ जोड़ा, किसी ने कुछ और एक पद बना। इसी प्रक्रिया से कविता आगे बढ़ी है। इससे एक कठिनाई अवश्य हुई है कि लोक-साहित्य का कोई मूल पाठ नहीं मिलता। यह भी कहा जा सकता है कि संभवतः कोई निश्चित मूल पाठ रहा भी न हो। इसका एक विपरीत परिणाम यह भी हुआ है कि कई लोगों को घाघ, भड्डरी आदि की कहावतों की लोक-साहित्य कहने में आपत्ति हुई है। किन्तु इन लोक कलाकारों का व्यक्तित्त्व इतना व्यापक और महान हो चुका था कि इनके नाम भी एक समुदायवाची बन गये हैं। इन्होंने 'स्कूल का रूप' ले लिया है। सच पूछा जाये तो इन नामों में नाम की गंध न रह गई है। ये तो आप्त पुरूष के रूप में शेष हैं।

भले ही वह पुरूष घाघ, भड्डरी हो, या हो अन्य कोई लोक नाट्यकार दीपचंद जैसा व्यक्ति। लखमी हरियाने का लोक सांगी इस रूप में है कि उसमें लोक नाट्यकार के लिए जिस सूझ, व्यक्तित्त्व और प्रतिभा की आवश्यकता होती है वे सब एक-एक करके विद्यमान हैं। उसकी कल्पना इतनी निराली और व्यापक तत्त्वों से समन्वित थी कि दर्शकवृन्द 'वाहा दादा, वाह दादा' कहकर पुकार उठते और रसानुभूति से उन्मत हो जाते थे। लोक-साहित्य की अन्य विशेषता यह है कि यह प्रचार या उपदेशात्मक प्रवृत्तियों से अछूता है। विशुद्ध लोक-साहित्य में प्रचार, प्रोपैगेन्डा अथवा उपदेश का अभाव रहता है। उसमें तो विरह, वीरता करूणादी के सात्विक भाव भरे होते हैं, जो जन-जन को एक रूप से प्रिय एवं ग्राह्य हैं। यहाँ पर यह आपेक्ष किया जा सकता है कि लोकोत्तियों में भी तो उपदेशात्मक प्रवृत्ति है फिर वे लोक-साहित्य का प्रमुख अंग क्यों हैं? विचारने पर प्रतीत होगा कि लोकोक्ति साहित्य का प्राण वह कोरा उपदेश ही नहीं है। लोकोक्ति तो वह विट् एवं चमत्कार है, जो शत-शत अनुभवों के द्वारा प्राप्त हुआ है और किसी के मुख से चमत्कृत रूप में प्रसूत हुआ है। इसलिए लोकोक्ति केवल 'अभिव्यक्ति' पर जीवित है उपदेश पर नहीं। उपदेश तो वहाँ एक गौण तत्त्व है।

लोक-साहित्य की एक और विशेषता यह भी है कि उसमें साम्प्रदायिकता के लिए स्थान नहीं है। वह पक्षी व पवन के सदृश स्वच्छंद है। उसे शाक्त एवं वैष्णव की आलोचना से कुछ नहीं लेना-देना है। उसे विष्णु भी उतने ही पूज्य हैं जितनी कि शक्ति या काली आराध्या। उसकी निर्गुण ब्रह्म में उतनी ही आस्था है जितनी कि सीताराम, राधाकृष्ण और शिव-पार्वती में। लोक-साहित्यों से महान बना दिया है।

अंत में इस बात को समाप्त करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि कविता का कार्य पाठक को संवेदनशील बनाना, सोचने समझने की शक्ति देना और जीवन की रसमय व्याख्या करना है तो निश्चय ही शास्त्रीय कविताएँ अधिकांश में असफल रही हैं। लोकगीत चाहे जिस देश व जाति के हो कविता के वास्तविक उत्तरदायित्व को बहुत अंश में पूरा करते हैं, निभाते हैं।

लोक-साहित्य का महत्व -उपरोक्त विवेचन से हम उस कोने पर पहुँच गये हैं जहाँ से सरलतया लोक-साहित्य के महत्व को आंका जा सकता है। लोक-साहित्य का महत्व बहुविध है। विचार करने पर पाठ को धर्मगाथा, नृविज्ञान (एनथ्रापोलोजी), जाति विज्ञान (एथनोलोजी) और भाषा विज्ञान (फाइलालोजी) आदि क्षेत्रों में लोक-साहित्य की महत्ता, विशेष रूप से अनुभव होगी। यदि हम कहें कि लोक-साहित्य के सम्यक विवेचन के बिना इन क्षेत्रों का अध्ययन अपूर्ण एवं अर्द्धपूर्ण होगा तो कोई अत्युक्ति न होगी। लोक-साहित्य धर्मगाथादिकों के अध्ययन के लिए आधारशिला का कार्य करता है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में तो लोक-साहित्य की महत्ता सर्वविदित है।

विश्व और मानव की रहस्यमय पहेली को सुलझाने के लिए, उसके प्राचीनतम रूपों की खोज के लिए और उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए जहाँ इतिहास के पृष्ट मूक हैं, शिलालेख और ताम्रपत्र मलीन हो गये हैं वहाँ उस तमसाच्छन्न स्थिति में लोक-साहित्य ही दिशा-निर्देश करता है। लोक-साहित्य का गंभीर अध्ययन जीवन और जगत की मौलिक एवं प्राणाणिक खोज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों को जानने का सबसे सरल, प्रामणिक एवं रोचक साधन लोक-साहित्य ही तो है। इस स्थल पर एक और बात भी विचारणीय है कि सभ्य कही जाने वाली जातियों के वास्तविकतावादी लेखकों की भाँति अनेक असंस्कृत जातियों के मौखिक साहित्य में भोग व लिप्सा की दुर्गन्ध नहीं है। इनके गीतों में जीवन की निकृष्ट दशा को छोड़ जीवन के रमणीय पक्ष का प्रदर्शन हुआ है।

1. ऐतिहासिक महत्व - किसी देश व समाज के प्राचीन रूप को देंख लेने का अनुपम साधन लोक-साहित्य है। जब श्रावण मास में चंदन के रूख पर रेशम की डोर से झूला डालने की मांग हरियाणों की नवोढ़ा करती है, बटेऊ (अतिथि, विशेषकर जामाता) के पधारने पर सोने की कढ़ाई में पूरियाँ उतारने की बात कही जाती है तो बरबस मन समाज के विगत वैभव विलास की ओर खिंच जाता है। भले ही ये समाज की आदर्श कल्पनाएँ रही हों किन्तु जन मानस में ये वस्तुएँ अवश्य रही हैं। चन्दरावल तथा अन्यान्य पतिपरायणा महिलाओं के आदर्श पतिव्रत को प्रदर्शित करने वाले गीत तथा कामांध यवनों के निरीह जनता के गृहस्थ जीवन को पंकिल करने वाले कारनामे किस इतिवृत्त से अधिक प्रभावशील नहीं हैं?

वर्णनात्मक दोहे जो ग्रामीण जनता के मुख में आसीन हैं बड़ी पजे की बातें बतलाते हैं और पिछले इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। हरियाणा के विषय में गुरू गोरखनाथ के पर्यटन से सम्बन्धित यह दोहा-

"कंटक देश, कठोर नर, भैंस मूत्र को नीर।
करमां का मारा फिरे, बांगर बीच फकीर।"

नाथकालीन इस प्रदेश के इतिहास को अपने में समेटे हुए है। यह संस्कृत में प्राप्त उस वर्णन के प्रतिकूल है जहाँ हरियाणे को 'बहुधान्यकभूरू' कहा गया है। इस स्थिति में पाठक एक विचिकित्सा में पड़ जाता है कि राजाश्रित किसी कवि की वह संस्कृतोक्ति सत्य है अथवा रमते राम बाबा गोरखनाथ की यह ठेठ वाणी। सामयिक परिस्थिति एवं वातावरण को देखते हुए गोरख बाबा वाली बात ही यथार्थ बैठती है। ऐसे ही अन्य अनेक तत्त्व इतिहास की खोज में सहायक होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य में यह कमी बतलाई है कि इसमें इतिहास विषयक सामग्री का एक तरह से अभाव है, परन्तु उनका यह आक्षेप शिष्ट और लोक-साहित्य दोनों पर लागू नहीं होता। लोक मस्तिष्क ने अपने इतिहास की कडियाँ अपने गीतों में, अपनी कथाओं में जोड़ी है। लोकगाथाएँ तो एक रूप से इतिहास की प्रचुर सामाग्री से सम्पन्न हैं। उनमें अतिरंजना भले ही हो किन्तु इतिहास के विद्यार्थी को कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिल जायेंगे जो प्रसिद्ध इतिहास लेखकों की दृष्टि से छूट गये हैं।

2. सामाजिक महत्व - लोक-साहित्य का सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है। समाजशास्त्र के समुचित अध्ययन के लिए लोक-साहित्य की महत्ता सुविदित

है। भारतीय समाज का ढांचा किस प्रकार का रहा है, यह लोक-गीतों, लोककथाओं और लोकोक्तियों से भली-भांति समझ में आ जाता है। सास-बहू का कटु संबंध, ननद-भौजाई का वैमनस्य, विप्रयुक्ता तथा विधवा की दशा का मार्मिक एवं यथातथ्यपूर्ण वर्णन किसी लिखित रूप में उतना मार्मिक नहीं मिलेगा। भाई-बहन के निरीह निश्छल कोमल प्रेम के उदाहरण क्या कल्हण की राजतरंगिणी, अष्टदश पुराण और टॉड राजस्थान आदि महान ग्रंथों में देखने को मिंलेगे? शिशु जन्म पर होने वाले सामाजिक कृत्यों के प्रति क्या इतिहास लेखकों का ध्यान कभी गया है? इन सबके समीचीन अध्ययन के लिए लोक-साहित्य ही तो एक मात्र साधन है।

3. शौक्षिक महत्व - ज्ञान एवं नीति की दृष्टि से यह साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। ग्रामों में चाहे स्कूल, कॉलेज एवं उच्च शिक्षा का समुचित प्रबंध न हो,चाहे ग्रामीण जनता को अक्षर ज्ञान की कोई सुविधा न हो परन्तु जनता के ज्ञान में बराबर वृद्धि होती रहती है। इस ज्ञान को ग्रामीण जनता आँखों द्वारा न लेकर कानों द्वारा ग्रहण करती है। इस प्रकार यह शिक्षा दिन और रात का प्रातः और मध्याह्न का, तथा संध्या व प्रदोषकाल का कोई ध्यान न कर सहज रूप में वायु और आकाश के पंखों पर चढ़ नारद की भांति जन-जन के द्वार पर अलख जगाती है। ग्राहक को इस शिक्षा के हृदयंगम करने के लिए किसी विशेष वातावरण एवं परिस्थिति की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रामों में मौखिक विश्व विद्यालय खुले हुए हैं। परस (चौपाल) और पूअर (अलाव) इस ज्ञान-वितरण के लिए बड़े उपयुक्त स्थल हैं। इन संस्थाओं में शिक्षा के अलग-अलग स्तर हैं जहाँ आबालवृद्ध को आयु के अनुसार शिक्षा मिलती है। शिक्षार्थी को समयानुसार सब चीजें सीखने को मिलेंगी। कोर्स (पाठ्यक्रम) आयु के अनुसार चलता है। बचपन में बाल सुलभ और बुढ़ापे में बृद्ध सुलभ।

इस शिक्षा वितरण के सर्वोत्तम साधन लोक-कथाएँ हैं। यों तो बालक की शिक्षा जननी की गोद में ही आरम्भ होती है। वहीं से वह चंदामामा, झूजू के म्याऊँ के, आटे बाटे के द्वारा कुछ सीखता चलता है। कैसा सुन्दर ढंग है, शिक्षा की शिक्षा और मनोविनोद का मनोविनोद। घर-घर में किंडर गार्टन और मांटेसरी शालाएँ लगी होती हैं। माता-पिता, भाई-बहन, दादी-दादा, अड़ोसी-पड़ोसी अबोध बालक की ज्ञान झोली में कोई न कोई रत्न बिना मांगे डालते रहते हैं। बालक कुछ बड़ा होता है तो दादी-नानी की घरेलू कहानियाँ बालक को हुंकारे

के साथ कभी आश्यर्च, कभी उत्साह और कभी उदारता के पाठ पढ़ाती चलती हैं। इन कहानियों में बालक के लिए परिचित कुत्ता, बिल्ली, कौआ, मोर, तोता, सारस, गीदड़ और लोमड़ी आदि पात्र जीवन की व्याख्या बालक की मातृभाषा में करते चलते हैं। ये कहानियाँ श्रोता के सामाजिक व्यवहार का ज्ञान भी देती रहती हैं। इन ग्रामीण घरेलू कहानियों और पाठ्य-पुस्तकों में स्थान पाने वाली आधुनिक कहानियों में एक मौलिक अन्तर है। स्कूली कहानियों में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति लहरें लेती है जब कि घरेलू कहानियों का पट उन्हीं तन्तुओं से निर्मित है, जो पूर्णतया भारतीय हैं। वही-'एक राजा था। उसके सात छोरे थे और सात छोरियाँ थी' आदि पूर्व परिचित बातें हैं।

बालिकाओं के दृष्टिकोण से देखें तो लोक-साहित्य बड़ा उपयोगी मिलेगा। उनके लिए सामाजिक एवं कौटुम्बिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध यहाँ मिलता है। उदार जननी एवं सद्गृहस्थ बनना भारतीय पुत्रियों का प्रथम व पुरातन उद्देश्य रहा है। बालिकाएँ जीवन के आरम्भ से ही गुडियों के साथ खेल-खेलकर अपना मनोरंजन करती हैं और गृहस्थ के अनेक रहस्यों को अनायास सीख लेती हैं, समझ लेती हैं। कुछ सयानी होती हैं तो गीतों की दुनिया में पदार्पण करती हैं। यह संसार उन्हें पर्याप्त मात्रा में शिक्षित कर देता है। यहीं से उन्हें ऐसे असंख्य नुस्खे (योग) मिलते हैं, जो भावी जीवन के लिए लाभप्रद एवं हितकर सिद्ध होते हैं। जिन बातों को ये गुड्डे-गुडियों के रूप में कहती सुनती है उन्हीं से अपने भावी जीवन की दिशा निर्धारित करती चलती है। डॉ. वैरियर एलविन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फोक्सांग्स् ऑफ मैकलल्सि' में एक स्थान पर लोक गीतों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि-"इनका महत्व इसलिए नहीं है कि इनके संगीत, स्वरूप और विषय में जनता का वास्तविक जीवन प्रतिबिम्बित होता है, प्रत्युत इनमें मानवशास्त्र (सोशियोलाजी) के अध्ययन की प्रामणिक एवं ठोस सामग्री हमें उपलब्ध होती है।" डॉ. एलविन के मत में एक सार है, एक तथ्य है।

4. आँचारिक महत्व - लोक में आचार का बड़ा महत्व है। लोक-साहित्य में आचार संबंधी बातें यत्र-तत्र बिखरी मिलेंगी। यहाँ आचार संबंधी कितने ही अध्याय खुले पड़े हैं जिनमें एक लोकोत्तर नैतिक एवं आचारिक अवस्था का वर्णन है। सतीत्व का कितना ऊँचा आदर्श यहाँ उपलब्श होता है यह चन्दरावल के कथा-गीत से स्पष्ट है। लोक-साहित्य में जिन उच्चादर्शों का वर्णन है जिन लोकोत्तर चरित्रों की कल्पना है उनमें राम, कृष्ण, शिव और सीता, राधा, पार्वती

को नहीं भुला सकते। वे हमारे आचार के केन्द्र हैं। इन्हीं आदर्शों को अपनाकर भारत भारत रह सकता है।

5. भाषा वैज्ञानिक महत्व - यह सत्य बात है कि 'भाषा-शास्त्री' के लिए शिष्ट साहित्यिक भाषाएँ उतनी उपयोगी नहीं है जितनी कि बोलचाल की भाषाएँ। इसलिए लोक-साहित्य लोक-भाषा की वस्तु होने के कारण भाषा-वैज्ञानिकों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है, यही वह धरातल है जहाँ पर भाषातत्त्ववेत्ता भाषा के परतों को उघाड़कर देखते हैं और गंभीर से गंभीर स्तरों में प्रवेश पाते हैं।

अर्थ परिवर्तन को समझने के लिए तथा शब्दों के इतिहास की खोज के लिए लोक-साहित्य सर्वाधिक उपादेय है। पं. रामनरेश जी त्रिपाठी का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि 'आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता गाँव वाले हैं और उनका साहित्य इस भाषा को गढ़ने के लिए टकसाल का काम दे रहा है। संस्कृत के शब्द किस प्रकार साधारण जन के लिए उपयोग सुलभ हुए हैं यह सब इस टकसाल का ही परिणाम है।' जब एक साधारण ग्रामीण किसी नई वस्तु या किसी नूतन प्राकृतिक व्यापार को देखता है तो उसे अपनी समझ से कोई न कोई नाम देना चाहता है। इसके लिए किसी पंडित व पुरोहित की अपेक्षा उसे नहीं होती। उसने साईकिल देखी। कभी नहीं सोचा कि यह अंग्रेजी अथवा ऐंग्लो-सेक्सन भाषा का शब्द है और उसके क्या मायने हैं। उसने देखा केवल एक नूतन व्यापार कि एक गाड़ी है और वह पैर से चलती है। अत: वह सहसा कह बैठा 'पैरगाड़ी'। यह एक साधारण शब्द है, लेकिन कितना सार्थक एवं उपयोगी है।

लोकमानस की शब्द निर्माण शक्ति की परख प्राय: क्रिया-विशेषण बनाने में सरलतया हो जाती है। जोर से गिरने के लिए 'धड़ाम से गिरा' अधिक सार्थक एवं स्वत: बोधक है आदि। यदि हम किसी ग्रामीणजन को बोलता सुने तो हमें सहज ही ज्ञात हो जायेगा कि वह कितने ही ऐसे शब्द प्रयोग में लाता है, जो भारतीय वातावरण में पनपे हैं यथा पौन (पवन), पौरख (पौरूष), वार (वारि) आदि ऐसे शब्द हैं जिनके अन्तस् में भारतीय वातावरण हिलोरें ले रहा है। एक सरल विवेचन से हम यह देख पायेंगे कि लोकभाषा शिष्ट भाषा से अधिक सम्पन्न और सरल भी बनेगी। हरियाणा लोक-साहित्य का अध्ययन भी हिन्दी शब्दकोष की पर्याप्त अभिवृद्धि करेगा। इस बोली के उणियार (सदृश),ल्हास तथा दावें (पर्याप्त रूप से) आदि ऐसे शब्द हैं, जो हिन्दी की भाव-प्रकाशिका को बढ़ायेंगे।

6. सांस्कृतिक महत्व -लोक-साहित्य का सांस्कृतिक पक्ष बड़ा विशद है। विश्व की संस्कृतियाँ कैसे उद्‌भूत हुई, कैसे पनपी, इस रहस्य की कहानी अथवा इतिहास हमें लोक-साहित्य के सम्यक् अध्ययन से मिलता है। संस्कृतियों के पुनीत इतिहास की परख अनेकांश में लोक-साहित्य से संभव है। सच पूछा जाये तो लोक-साहित्य ही संस्कृति का अमूल्य निधि है।

महात्मा गांधी के निम्नलिखित शब्द जिनमें लोक-साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष की महत्ता प्रकट की गयी है, चिरस्मरणीय रहेंगे- 'हाँ, लोकगीतों की प्रशंसा अवश्य करूँगा, क्योंकि मैं मानता हूँ कि लोकगीत समूची संस्कृति के पहरेदार होते हैं।' गुजराती मनीषी काका कालेलकर ने लोक-साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष को इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'लोक-साहित्य के अध्ययन से, उसके उद्धार से हम कृत्रिमता का कवच तोड़ सकेंगे और स्वाभाविकता की शुद्ध हवा में फिरने-डोलने की शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। स्वाभाविकता से ही आत्मशुद्धि संभव है' अंत में यदि हम यह कहें कि लोक-साहित्य जन-संस्कृति का दर्पण है तो अत्युक्ति न होगी।

संस्कृति की आधार शिला पुरातन होती है। इसके मूल तत्त्वों के संबंध में जो तत्त्व सबसे महत्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं, वह है विगत का प्रभाव। आज भी हमारा आदर्श हमारा अतीत है। झूला-झूलते, चाकी पीसते, यात्रा करते हमारे आदर्श राम-लक्ष्मण के पुण्य चरित्र ही हैं। यही लोक-साहित्य का सांस्कृतिक पक्ष है।

3

लोक-साहित्य एवं लोकगीत

नागर के विपर्यय में लोकशब्द को समझा जा सकता है, किंतु प्राचीन काल में यह शब्द व्यापक जन समाज के लिए आता था। मात्र ग्रामीण जन जीवन के लिए नहीं। आचार्य अभिनव गुप्त ने 11- 12 शताब्दी में कहा था "लोकोनाम जनपद वासी जन" अर्थात जनपद में रहने वाला जन ही लोक है परंतु आज लोकशब्द को मात्र ग्रामीण जनजीवन तक सीमित कर दिया गया है। अभिनव गुप्त के मतानुसार लोकशब्द से वह संपूर्ण समाज (नगर और ग्राम्य) संबोधित होता है, जो जीवन के अनगढ़पन को बड़े ही सहज ढंग से स्वीकार करता है और जीता है। इस अनगढ़पन में समाज का सामूहिक अनुभव और विवेक होता है, जो अपनी स्वीकृति के लिए किसी शास्त्र के वजाय जीवन के कर्मरत अनुभव और परिस्थितिपरक राग अनुराग से उत्पन्न विवेक पर निर्भर करता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकशब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नही है बल्कि नगरों और गावों में फैली हुई वह समुची जनता है जिनकी व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृतरुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती है उनको उत्पन्न करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि यही समाज अपने जीवन के अनुभव को अपने विवेक के आधार पर विविध कलात्मक रुपों में अभिव्यक्त करता है तो

वे लोक-साहित्य या कला के द्वारा अभिचिह्नित किए जाते हैं। लोक-साहित्य शिष्ट साहित्य के विपरीत सामूहिक विवेकशील जीवन पद्धति का प्रतिविम्ब होते हैं, जो सहज-सरल और भौतिकवादी होने के साथ साथ अपनी जीवंत परंपराओं को अपने दैनिक जीवन के संघर्ष से जोड़ती चलती है। इस साहित्य की विशेषता यह होती है कि यहा व्यक्ति विशेष महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि सामूहिक अनुभव और संघर्ष से उत्पन्न रागात्मकता महत्वपूर्ण होती है। यही वजह है कि लोक-साहित्य को " अपौरुषेय वांड़मय कहा गया है। लोक-साहित्य की प्राय: कोइ भी रचना किसी व्यक्ति विशेष के नाम से चिह्नित नहीं की जा सकती क्योंकि यह सामूहिक अभिव्यक्ति का रुप होता है या कहे लोकाभिव्यक्ति में लोक का सामूहिक प्रयत्न होता है "। ग्रिम का कहना है कि लोकगीत स्वयं बनते हैं इसका तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति के संदर्भ में उसके समूह के अन्य लोगों के भावोदगार भी उसमें जुड़ते रहते हैं और विविध रुपों में लोक-साहित्य बनता संवरता रहता है।

"लोक-साहित्य में लोकमन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वाचिक परंपरा द्वारा ही लोक-साहित्य जन जन तक पहुंचता है। लोकमन और लोकमत , लोकसंस्कार, लोकरीति, लोकजीवन प्रत्येक पहलू लोक-साहित्य में सहज संवाद करने लगता है। मौखिक रुप से जो रचना कही जाती है वह यद्यपि मूल रुप में किसी एक व्यक्ति द्वारा रची गई होगी लेकिन उसमें समय-समय पर अन्य व्यक्तियों द्वारा भी जोड़ा घटाया जाता है और इस प्रक्रिया में रचना किसी की न रहते हुए भी सबकी हो जाती है। लोक-साहित्य की कृति होंठों पर चलती लंबा फासला तय करती रुप बदलती रहती है। कोई इसमें शब्दों गढ़ता मांजता है कोई नई तुकें जोड़कर इसमें मिला देता है कोई इसे छांटता संवारता है और आखिर में रचना अपने में जातीय समूह का अनुभव रचा पचा कर एक साक्षी कृति बन जाती है। एक धुन जिसके साथ सबके हृदयों की धड़कने एक सुर हो जाती है एक रस जिसको सब अपना समझ कर पीते हैं।" उपरोक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य का आधार संवेदनामक ज्ञान है। दिनभर के कार्य से थके हारे मन को सामूहिक आनंद चाहिये जिसकी परिणीति लोकगीत,लोकनृत्य में होती है इसी कारण सोहनी, रोपनी, पूर्वी, चैता, कजरी, झूमर ...आदि लोकगीत लोक संस्कृति में आज भी सुरक्षित है।

लोक और फोक में अंतरय-लोक शब्द को अंग्रेजी फोक का पर्याय एक प्रचलित अर्थ में मान लिया जाता है, किंतु लोक पश्चिमी फोक से बहुत भिन्न

है। फोक का संबंध भूली बिसरी चीजों परम्पराओं रीति-रिवाजों, कथाओं, गीतों के संकलन संग्रह और स्मरण से है जबकि भारतीय दृष्टि में लोक सदा विकास की प्रक्रिया में रहनेवाला मानवीय तत्त्व है। अत:लोकवार्ता, लोक-साहित्य, लोकसंगीत, लोककला आदि शब्द फोकलोर की पश्चिम अवधारणा से भले ही जुड़े हो लेकिन लोक की भारतीय अवधारणा की ठीक उन्हीं संदर्भो में व्याख्या मुश्किल होगी। फोकलोर में पुराकथा,आख्यान ,लोककथा,मौखिक परम्परा से लोककंठ में जीवित अलिखित लोकगीत,कहावते,पहेलियां लोक विश्वास लोकरीति लोकचार लोक-कर्मकांड,जादू-टोने सभी कुछ समाहित है। उन्नीसवी शताब्दी में पूंजीवाद के विकास के साथ ही साइंस को इस युग के एक मुख्य मिथक के रूप में स्वीकार किया गया। अत: फोकलोर से उस समग्र ज्ञान को कहने की चेष्टा की गयी जो साइंटिफिक नालेज से अलग है। किंतु संस्कृत वांग्मय में लोक आदि,बर्बर,असभ्य,या अविकसित, अवैज्ञानिक समुदाय या वर्ग नहीं है और सर्वोच्च मौखिक परम्परा या अलिखित परम्परा तो वह है जिसे सर्वथा दिव्य, दोषशून्य पूर्ण और शाश्वत माना गया है-वह है वैदिक परम्परा। अत: फोकलोर के आधार में विद्यमान मौखिक परम्परा की धारणा भारतीय संदर्भो में अर्थहीन हो जाती है जहां सामंती विकास के अंतिम दौर में भी सर्वशुद्ध,दोषरहित शाश्वत और परिष्कृत परम्परा का प्रतिनिधित्व मौखिक परंपरा ही करती है। इसके साथ ही दास और कृषक वर्ग की संपूर्ण संस्कृति को बर्बरता,असभ्यता,अविकास और पिछड़ेपन की दृष्टि से कभी नहीं देखा गया ।इसके विपरीत लोक और शास्त्र में एक सतत संवाद और आदान-प्रदान का सम्बंध है।जो कुछ लोक में है वही कभी शास्त्र बनता दीखता है और जो शुद्ध शास्त्रीय रूप है वह कालांतर में शास्त्रीय न रहकर लोक में जीवित दीखता है। जब शास्त्रीय और अभिजात सस्कृति मुरझाने लगती है या मलिन हो जाती है तो लोक से जीवन रस पाती है। लोक और शास्त्र के मध्य विग्रह और विरोध कम संवाद और विनिमय का सम्बंध ही अधिक है।साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लोकसस्कृति एवं नागरिक सभ्यता की परस्पर क्रिया-पतिक्रिया सतत होती रहती है। इन दोनों संस्कृतियों में आदान-प्रदान की यह किया-प्रतिक्रियासतत चलती रही है और इसी के द्वारा दोनों सस्कृतियों का निर्माण हुआ है।

डा. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-साहित्य को पांच भागों में विभक्त किया है-

1. लोकगीत,

2. लोकगाथा,
3. लोककथा,
4. लोकनाट्य,
5. लोक सुभाषित।

लोकगीत

लोक-साहित्य के अंतर्गत लोकगीत का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाता है। गीत भावुक और संवेदनशील मानव के हृदय के स्वभाविक उदगार के रुप में प्रकट होते हैं। लोकगीत वह गीत है जिनका प्रधान तत्त्व ज्ञेयता है। गीत वस्तुत: रागात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें जीवन का राग प्रकट होता है। मानव की आदिम प्रवृत्तियां (प्रेम वात्सल्य, करुण, हास्य) एक समान होने के कारण सभी प्रांतों और जातियों के गीतों में समानता देखी जा सकती है। लोकगीत विभिन्न संस्कारों, विभिन्न ऋतुओं तथा विभिन्न त्योहारों के अवसर पर गाए जाते हैं। खेतों और घरों में काम करते समय परिश्रमजनित थकावट को दूर करने के लिए भी इनका उपयोग होता हैं। जीवन में इनका व्यापक प्रचार है। डा. विद्या सिन्हा के अनुसार "लोक-साहित्य का सबसे अधिक व्यापक विविध प्रिय प्रचलित रुप लोकगीत है। मनुष्य की अनुभूतियों को उसके सामाजिक जीवन से जुड़ कर जो भाव प्रवण अभिव्यक्ति मिली वही लोकगीतों के विविध प्रकारों में व्यक्त हुई। लोकगीत सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। वे मनुष्य प्रकृति और समाज के सहज पारस्परिक संबंधों को अकृत्रिम ग्रामीण जन जीवन के बीच कर्मक्षेत्र जीवनयापन और जिजीविषा के साथ व्यक्त करते है।

लोकगीत विविध संस्कारों के दौरान ऋतुओं के स्वागत में कृषि कर्म करते हुए गाए जाते है। लोकगीतों की आयु निश्चित करना कठीन हैं। वे अमर सृष्टियां है। वैरियर एल्वीन का कहना है - लोकगीत केवल इसलिए केवल महत्वपूर्ण नहीं है कि उनका संगीत स्वरुप और वर्ण्य विषय जनता के जीवन का अंगभूत बन गया है। प्रत्युत्त उनकी महत्ता इससे अधिक है। इन मनोरम गीतों में इन व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित लेख पत्रों में हमें मानव विज्ञान संबंधी तथ्यों की प्रमाणीभूत सामग्री उपलब्ध होती है। मानव विज्ञान वेत्ताओं को अपने सिद्धांतों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए लोकगीतों को छोड़कर कोई दूसरा सच्चा एवं विश्वासपात्र साक्षी उपलब्ध नहीं हो सकता।

लोकगीत उस खान के समान है जिसके खोदने का कार्य अभी प्रारंभ ही नही हुआ है, यदि इन गीतों का प्रकाशन किया जाय तो इनकी प्रत्येक पंक्ति में ऐसी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होगी जिससे भाषा शास्त्र संबंधी अनेक समस्याएं सुलझाई जा सकती है। – कृष्णदेव उपाध्याय का कथन है – 'किसी देश के लोकगीत उस देश की जनता के हृदय के उदगार है वे उनकी हार्दिक भावनाओं के सच्चे प्रतिक होते हैं यदि किसी देश की सभ्यता का अध्ययन करना हो तो सर्वप्रथम उनके लोकगीतों का अध्ययन करना होगा। लोकगीत लोकमानस की वस्तु है अत: उनमें जनता का हृदय लिपटा रहता है। 'लोकगीतों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा. रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है – 'भारतीय जनता का सामान्य स्वरुप पहचानने के लिए पुराने परीचित ग्राम गीतों की ओर ही ध्यान देने की आवश्यकता है। केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परंपरा का अनुशीलन ही अलग नही हैं। जब जब शिष्टों का काव्य पंडित बन्ध कर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा 'डा. विश्वनाथ के शब्दों में कहे तो – लोकगीतों में जन-जीवन की सच्ची झांखी है। गर्हस्थ का निर्मल दर्पण है। भारतीय संस्कृति की सुनहरी शृंखला है काव्य का सरल सहज सौंदर्य है। भाषा का बहता नीर है। समाज और लोकोचार का सजीव इतिहास है। नर-नारियों के मनोभावों और सुख-दु:ख के अनुभूतियों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भंगिमाएं भी तथा विज्ञान की उपयोगी सामग्री भी है। जिसका जिस पक्ष में रुचि हो उसका स्वाद लें। लोकगीतों के संदर्भ में कहा जाता है, जो जातियां जितनी अधिक परंपरा प्रेमी है। उनके लोकगीतों में उतनी ही अधिक अन्विति रहती है। परंपरा निरी रुढ़ियां नहीं है, उनमें विकास के बीज वर्तमान रहते हैं , जबकि रुढियां किसी समाज के सिरोभार से अतिरिक्त कुछ नही होती। भारतीय जन परंपराओं के पुजारी है, रुढ़ियों के गुलाम नहीं। प्रतिभा दूवे के अनुसार "उच्च वर्गीय शिष्ट समाज ने अपने कृतित्त्व को लिपिबद्ध किया और अध्ययन -अध्यापन की परंपरा द्वारा समस्त अर्जित ज्ञान को सुरक्षित एवं संरक्षित रखने का प्रयास किया। इसके विपरीत निम्नर्गीय सामान्य जनता पठन-पाठन की सुविधा से वंचित रही अत: सुविधा विहिन लोकजन ने अपने संस्कारों, रिवाजों, परंपराओं एवं संस्कृति को लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककथाओं, एवं लोकनाट्यों के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास किया अन्य की अपेक्षा लोकगीत लोक-साहित्य की सबसे

सशक्त विधा है। लोकमन की रसवती गंगा लोकगीतों में अपने सम्पूर्ण आवेग ,संवेग और संवेद के साथ प्रवाहित होती है। इन गीतों में लोकजीवन के समस्त रीति-रिवाज लोकपरंपराएं धार्मिक कृत्य विधान मिथक लोक कथाएं युगबोध एवं प्रतिरोध आदि सबकुछ सुरक्षित है।

भारतीय जनमानस ने जन्म से लेकर मृत्यु तक विविध संस्कारों को अपनी लयपूर्ण संगीतात्मक सहज भावनाओं के साथ उत्सव एवं समायोजन के रुप में सजाया है। प्रत्येक अचल की अपनी परम्परा से जुड़े गीत तीज-त्योहार,विवाह,संस्कार तथा अनेक अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत आज हमारी भारतीय सस्कृति की अमूल्य नीधि है। शिशु जन्म से लेकर मनुष्य की अंत्येष्टि तक के समूचे चित्र हमारे लोकगीतों में विद्यमान हैं। संतान के जन्म से संबंधित गीतों को मुख्य रुप से जंती और सोहर कहा जाता है। सोहर के विविध रुप देखे जा सकते हैं। गर्भवती स्त्री की अवस्था को लेकर गाए जाने वाले सोहर गीत। शिशु जन्म के सोहर गीत शिशु के विविध संस्कार पर आधारित जैसे खेलावन, छठी पूजन, आंख अजाई , बधैया इत्यादि। जनजीवन में लोकगीत की व्यापकता एवं प्रचुरता के आधार पर लोकगीतों का श्रेणी विभाजन निम्नलिखित पांच प्रकार से किया गया है -

1. संस्कारों की दृष्टि से - जन्म से पूर्व से लेकर मृत्यु के बाद तक हिंदू जीवन विभिन्न संस्कारों से सम्बद्ध है। हमारे धर्मशास्त्रियों ने षोडस (सोलह) संस्कारों का विधान किया है जिनमें गर्भाधान , पूंसवन, पुत्रजन्म मुंडन यज्ञोपवीत विवाह और मृत्य प्रधान है। इनमें भी प्रथम दो संस्कारों की प्रथा अब नहीं है अत: आजकल शेष पांच संस्कार ही प्रधान रुप से संपादित किए जाते हैं। जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले सोहर तथा शिशु के बड़े होने के साथ-साथ उनके विकास के विविध चरणों से सम्बद्ध संस्कारों जैसे मुंडन जनेउ और विवाह से सम्बंधित गीत लगभग सभी भारतीय बोलियों में थोड़े बहुत अंतर के साथ मिलते है। अपने क्षेत्रीय रीति-रिवाजों के अनुरुप विवाह संस्कार के अंतर्गत वर और कन्या पक्ष में अलग-अलग प्रकार के गीत मिलते हैं। कुछ लोकगीत जैसे शगुन, भैया गीत, तिलक, चुमावन, संझा, प्राती, पितर नेवतन हल्दी चढ़ाई शिव विवाह राम विवाह आदि दोनों पक्षों में समान रुप से गाए जाते हैं। बेटे के विवाह में बन्ना, टोना, नहछु, सेहरा और बेटी के विवाह में द्वारपूजा, परिछन, कन्या निरीक्षण लावा मेराई, कन्यादान, सोहाग ,कोहबर ,उपटन, झूमर ,मतझका, बेटी विदाई आदि विविध प्रकार के गीत गाए जाते हैं। घर में बहु आने

के बाद वर के घर में गाए जाने वाले गीत है पुतोहु परिछन, दौरा में डेग धराई (टोकरी में पैर रखना), गोर लगी (पैर छूना), चौठारी (चौथे दिन की लोकरीति), नहावन (स्नान), गौना (लडकी की विदाई), आदि के गीत संस्कार गीतों के अंतर्गत रखे जाते हैं।

2. रसानुभूति की प्रणाली से - लोकगीत विविध रसो से परिपूर्ण ऐसी धारा है, जो वर्षो से चारो दिशाओ में प्रवाहित हो रही है श्रृंगार, वीर, करूण, हास्य ,शांत रस पर आधारित विविध लोकगीत इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। सोहर, झूमर रति सम्बंधित गीत श्रृंगार रस गौना जैतसार निर्गुण रोपनी तथा सोहनी आदि के गीतो में करूण रस की मार्मिकता आज भी सम्वेदनशील प्राणी को भाव-विभोर कर देती है।

3. ऋतुओं तथा व्रतों के क्रम से - ऋतुओं के आधार पर रचे गए लोकगीतों में सावन ऋतु में कजली हिंडोला वसंत ऋतु में होली बारह मासा और वसंत के बाद चैत आदि ऋतुओं में श्रृंगार और रोमांस की अभिव्यक्ति सहज ही देखी जा सकती है। श्रृंगार की मादकता मदमस्तता प्राकृतिक सौंदर्य का अवलम्ब पा कर स्वत: ही इन गीतों के रुप में अभिव्यक्त हो उठती है।

व्रतों के अवसर पर स्त्रियां विभिन्न गीत गा कर अपने श्रद्धा भाव को अभिव्यक्ति देती है। जिनमें श्रावण शुक्ल पंचमी जिसे नाग पंचमी के नाम से जाना जाता है। बिहार के मिथिला प्रांत के नवविवाहितों के लिए यह विशेष पर्व होता है।जो पंद्रह दिनों के लगातार विधिवत पूजा अर्चना के साथ सम्पन्न किया जाता है। इस अवसर पर नाग देवता से सम्बंधित गीत गाए जाते हैं। इसी प्रकार भाद्र पद कृष्ण पक्ष के चतुर्थी को बहुरा का व्रत किया जाता है। कार्तिक शुक्ल द्वितीया को गोधन की पूजा की जाती है तथा इसी पक्ष की षष्ठी तिथि को संतानहीन स्त्रियां छठी माता का व्रत करती है। राजस्थान में तीज तथा गनगौर त्योहार स्त्रियां बड़े उत्साह के साथ मनाती है। उपरोक्त सभी पर्वो और वर्तो के अवसर पर विविध प्रकार के गीता गाने की परम्परा देखी जा सकती है।

4. विभिन्न जातियो के गीत - जाति विशेष के लोगों द्वारा गाए गए गीतों को इस श्रेणी में रखा जाता है हिंदू समाज का कोई कौना ऐसा नहीं जहां जाति प्रथा का दखल ना हो। लोकगीतों में भी जातिगत भेद पाए जाते है बिरहा अहीर अहेर जाति के लोगों का राष्ट्रीय गीत है। पचरा दुसाधो का गीत हैं। गोडो में गोडऊ गीत गाया जाता है। कहार धोबी, चमार और गडेरिया के अपने-अपने गीत है। राजस्थान के अनेक जातियां जिनका जीवनयापन ही विशेष लोकगीतों

के गायन पर निर्भर करता है जैसे घाड़ीभोया आदि जातियों के ये गीत उनकी सम्पत्ति है जिनका गायन ये लोग ही करते है।

5. आधार श्रम के पर – दिनभर के थके हारे मन को सामूहिक आनंद चाहिए जिसकी परिणति लोकगीत और लोक-नृत्य में होती है। इन गीतों का उद्देश्य परिश्रम के बाद दिनभर की थकान को दूर करना होता है, खेत में धान रोपते समय स्त्रियां जो गीत गाती हैं। उन्हें रोपनी के गीत कहते हैं इसी प्रकार खेत निराते समय के गीत निरवाही या सोहनी के नाम से प्रसिद्ध है। जंतसार उन गीतो को कहा जाता है जिन्हें जंता (चक्की) चलाते समय स्त्रियां गाती हैं। चर्खा गीत चर्खा चलाते समय गाया जाता है। इस प्रकार श्रम के कार्यों की थकान और एकरसता को दूर करने के लिए इन लोक गीतों की रचना की जाती है। अत: वैदिक काल से चली आ रही गीतों की यह परम्परा आज तक वाचिक परम्परा के रूप में लोक समाज में विद्यमान है। लोकगीतों की परम्परा जीवन की सच्चाई खोजने की परम्परा है, जो ना जाने कितने युगों से चली आ रही है और ना जाने कितने हजार युगों तक जायेगी। इसा संदर्भ में डा. नामवर सिंह का मत उल्लेखनीय है-'इसमें कोई शक नहीं कि मशीनीयुग ने लोक-साहित्य विशेषत: लोकगीतों की रचना को गहरा धक्का पहुंचायां है ...जहाज्रानी और रेल ने हमारे देश के मध्य युगीन नौका-व्यापार को इतनी गहरी ठेस पहुंचाई कि नावों की लम्बी यात्रा समाप्त हो गई और उनके साथ-साथ उन यात्राओं की कहानियां और गीत भी ले गए...आधुनिक युग की मशीनों से हमारा रागात्मक सम्बंध इतना गहरा हो सका है कि वे लोकगीत के प्रेरक बन सके। बिजली की रोशनी फेल हो चुकी है फिर भी मिट्टी का दिया ही हमारी कल्पनाओं और भावों का सम्बल है। कहने का अभिप्राय यह है कि जनजीवन के परिवर्तन के साथ-साथ लोकगीतों में भी परिवर्तन हो सकता है। बदलते हालात में लोकगीत भी नए रूपो में जन-जीवन बनते सवरते रहते हैं, यही वजह है कि बिदेशिया के एक लोकगीत में रेलगाड़ी पर देश गए पत्ति की पत्नियों के लिए सौत और बैरी बन जाते हैं इस गीत में ग्रामीण सस्कृति पर रेल के (मशीनों) क्रांतिकारी प्रभाव को साक्षात महसूस किया जा सकता है। अत: स्पष्ट है कि लोक गीत जन-जीवन से प्रभावित भी होता है और प्रभावित करता भी है।

लोकगीत

लोकगीत लोक के गीत हैं जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। सामान्यत: लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के

लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्त्व को लोक समर्पित कर देता है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्‌भूत करता है, वही लोकगीत है।

इस प्रकार लोकगीत शब्द का अर्थ है-

1. लोक में प्रचलित गीत,
2. लोक-रचित गीत,
3. लोक-विषयक गीत,

कजरी, सोहर, चैती, लंगुरिया आदि लोकगीतों की प्रसिद्ध शैलियाँ हैं।

संस्कार गीत

बालक-बालिकाओं के जन्मोत्सव, मुण्डन, पूजन, जनेऊ, विवाह, आदि अवसरों पर गाये जाने वाले संस्कार गीत हैं - सोहर, खेलौनों, कोहबर, समुझ बनी, आदि।

गाथा-गीत लोकगाथा

विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विविध लोकगाथाओं पर आधारित इन गाथा-गीतों को निम्न श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है -

1. आल्हा,
2. ढोला,
3. भरथरी,
4. नरसी भगत,
5. घन्नइया।

6. लोरिकायन - वीर रस से परिपूर्ण इस लोकगाथा में गायक लोरिक के जीवन-प्रसंगों का जिस भाव से वर्णन करता है, वह देखते-सुनते ही बनता है।

7. नयका बंजारा - विभिन्न क्षेत्रों में गाये जाने वाले लोक गीतों में प्रायः विषय-वस्तु तो एक ही होती है, किन्तु स्थान, पात्र तथा चरित्रों में विविधता के दर्शन होते हैं।

8. विजमैल - राजा विजयमल की वीरता का बखान करने वाली इस लोकगाथा में बढ़ा-चढ़ाकर प्रचलित गाथा का वर्णन किया जाता है।

9. सलहेस - एक लोककथा के अनुसार, सलहेस, दौना नामक एक मालिन का प्रेमी था। उसके एक शत्रु ने ईर्ष्यावश सलहेस को चोरी के झूठे आरोप में बन्द बनवा दिया। दौना मालिन ने अपने प्रेमी सलहेस को किस प्रकार मुक्त कराया। बस इसी प्रकरण को इस लोकगीत में भाव-विभोर होकर गया जाता है।

10. दीना भदरी - इस लोकगीत में दीना तथा भदरी नामक दो भाइयों के वीरता का वर्णन मार्मिकता से गाया जाता है। इसके साथ ही राज्य के विभिन्न अंचलों में आल्हा-ऊदल, लाला हरदौल बुंदेला, राजा ढोलन सिंह, छतरी चौहान, नूनाचार, लुकेसरी देवी, कालिदास, मनसाराम, छेछनमल, लाल महाराज, गरबी दयाल सिंह, मीरायन, हिरनी-बिरनी, कुंअर बृजभार, राजा विक्रमादित्य, बिहुला, गोपीचन्द, अमर सिंह, बरिया, राजा हरिश्चन्द्र, कारू खिर हैर, मैनावती आदि के जीवन एवं उनकी वीरता भरी गाथाओं को राज्य के गाथा-गीतों के रूप में गाया जाता है।

पर्वगीत

राज्य में विशेष पर्वों एवं त्योहारों पर गाये जाने वाले मांगलिक-गीतों को 'पर्वगीत' कहा जाता है। होली, दीपावली, छठ, तीज, जिउतिया, बहुरा, पीड़िया, गो-घन, रामनवमी, जन्माष्टमी, तथा अन्य शुभअवसरों पर गाये जाने वाले गीतों में प्रमुखतः शब्द, लय एवं गीतों में भारी समानता होती है।

बारहमासा

प्रथम मास असाढ़ि सखि हो, गरज-गरज के सुनाय। सामी के अईसन कठिन जियरा, मास असाढ़ नहि आय सावन रिमझिम बुनवा बरिसे, पियवा भिजेला परदेस। पिया पिया कहि रटेले कामिनि, जंगल बोलेला मोर। भादो रइनी भयावन सखि हो, चारु ओर बरसेला धार। चकवी त चारु ओर मोर बोले दादुर सबद सुनाई। कुवार ए सखि कुँवर बिदेश गईले, तीनि निसान। सीर सेनुर, नयन काजर, जोबन जी के काल। कातिक ए सखी कतकि लगतु है, सब सखि गंगा नहाय। सब सखी पहिने पाट पीतम्बर, हम धनि लुगरी पुरान। अगहन ए सखी गवना करवले, तब सामी गईले परदेस। जब से गईले सखि चिठियो ना

भेजले,तनिको खबरियो ना लेस' पुस ए सखि फसे फुसारे गईले, हम धनि बानि अकेली। सुन मन्दिलबा रतियो ना बीते, कब दोनि होईहे बिहान। माघ ए सखि जाड़ा लगतु है, हरि बिनु जाड़ो न जाई। हरि मोरा रहिते त गोद में सोबइते, असर ना करिते जाड़ फागुन ए सखि फगुआ मचतु है, सब सखि खेलत फाग। खेलत होली लोग करेला बोली , दगधत सकल शरीर चैत मास उदास सखि हो एहि मासे हरि मोरे जाई। हम अभागिनि कालिनि साँपिनि, अवेला समय बिताय। बइसाख ए सखि उखम लागे, तन में से ढुरेला नीर। का कहाँ आहि जोगनिया के, हरिजी के राखे ले लोभाई जेठ मास सखि लुक लागे सर सर चलेला समीर। अबहुँ ना सामी घरवा गवटेला, ओकरा अंखियो ना नीर।

पेशा गीत

राज्य में विभिन्न पेशे के लोग अपना कार्य करते समय जो गीत गाते जाते हैं उन्हें 'पेशा गीत' कहते हैं। उदाहरणार्थ - गेहूं पीसते समय 'जाँत-पिसाई', छत की ढलाई करते समय 'थपाई' तथा छप्पर छाते समय 'छवाई' और इनके साथ ही विभिन्न व्यावसायिक कार्य करते समय 'सोहनी, 'रोपनी', आदि गीत गाते-गाते कार्य करते रहने का प्रचलन है।

जातीय गीत

समाज के विभिन्न क्षेत्रों की विविध जातियाँ मनोनुकूल अपने ही गीत गाती हैं, जिन्हें 'जातीय गीत' कहते हैं। श्रोतागण उन्हें सुनकर अनुमान कर लेते हैं कि गायक-गायिका किस जाति विशेष से सम्बन्धित हैं।

उक्त लोक गीतों के साथ ही बिहार में समय-समय पर और विशेषकर संघयाकाल समय भोजनोपरान्त सांझापराती, झूमर, बिरहा, प्रभाती, निर्गुण, देवी-देवताओं के गीत गाने का प्रचलन है।

प्रमुख लोक गायक

पद्मश्री शारदा सिन्हा, विजया भारती, मनोज तिवारी, मालिनी अवस्थी, देशराज पटेरिया जित्तू खरे, जयसिंह राजा , बब्बू राजा बुंदेला, प्रहलाद सिंह टिपानिया, तारासिह डोडवे, जण्टू सिंह, बांकेलाल, डॉ. शंकर प्रसाद, मोतीलाल 'मंजुल', विंघयवासिनी देवी, नन्द किशोर प्रसाद, कमला देवी, केसरी नन्दन भगत, कुमुद अखौरी, ग्रेस कुजूर, विष्णु प्रसाद सिन्हा, ब्रज किशोर दुबे, भरत

सिंह भारती, संतराज सिंह 'रागेश', योगेन्द्र सिंह अलबेला, अजित कुमार अकेला, भरत शर्मा व्यास, शम्भूराम, कविता चौघरी, उमाकान्त कमल, ललिका झा, उर्वशी, रेणुका अजीत अकेला,नीतू कुमारी नवगीत, सत्येंद्र कुमार संगीत, नीतू कुमारी नूतन,मनोरंजन ओझा, चंदन तिवारी, पंकज सखा ,अनु दुबे , रामकिशोर त्रिपाठी, बघेली लोकगीत गायक-भोपाल आदि लोक गायक हैं।

कविता वासनिक, पद्मश्री ममता चंद्राकर, पद्मविभूषण तीजनबाई, ने भी लोकगीतों को अपना स्वर दिया है।

लोकगीत (हिन्दी)

यह सुझाव दिया जाता है कि इस लेख का लोकगीत में विलय कर दिया जाए। (वार्ता) वर्तमान हिंदीभाषी क्षेत्र प्राचीन भारत का 'मध्य देश' है। इस क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों को भाषा वैज्ञानिकों ने चार भागों में बाँटा है। 'पश्चिमी हिंदी' जिसके अंतर्गत खड़ी बोली, ब्रज, बांगरू, कन्नौजी, राजस्थानी तथा बुंदेलखंडी भाषाएँ आती हैं। अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी मध्य की भाषाएँ हैं और इसके पूर्व में बिहारी भाषा समुदाय की भोजपुरी, मैथिली तथा मगही भाषाएँ हैं। उत्तर में कुमाऊँनी भाषा है, जो नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल, टेहरी गढ़वाल, पिथौरागढ़, चमौली तथा उत्तर काशी में बोली जाती है। बोलियों की बहुत सी उप-बोलियाँ भी हैं, जिनके लोकगीतों का यथास्थान संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा। लोकगीत चाहे कहीं के भी हों वे प्राचीन परंपराओं, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक तथा सामाजिक जीवन के या यों कहिए कि संस्कृति के द्योतक हैं। यहाँ विभिन्न क्षेत्रों के विविध लोकगीतों का परिचय देने के पूर्व ऐसे गीतों की चर्चा करे जो मात्र शब्दावली बदलकर अनेक क्षेत्रों में गाए जाते हैं। इनमें भाषा अथवा बोली की अनकता भले हो पर भाव की एकता एवं उसे व्यक्त करने तथा पात्रों का चयन एक जैसा होता है। ऐसे गीतों में ऋतुसंबंधी गीत, संस्कार गीत और जातीय गीत मुख्य रूप से आते हैं। पद्य गाथाएँ एवं पँवारे भी विभिन्न प्रकार से गाए जाते हैं।

ऋतुगीतों में फाग और पावस गीत ऐसे हैं, जो अनेक क्षेत्रों में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। फाग गीत मुख्य रूप से पुरुषों का गीत है, जो बसंत पंचमी से लेकर होलिका दहन के सबेरे तक गाया जाता है। अवधी, ब्रज, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, बैसवाड़ी, बघेली, भोजपुरी आदि अनेक बोलियों में फाग संबंधी गीत पाए जाते हैं। फाग के होली, चैताल, डेढ़ताल, तिनताल, देलवइया,

उलारा, चहका, लेज, झूमर और कबीर आदि अनेक प्रकार हैं। इन सब में केवल घुनों का अंतर है। पावस गीतों की भी बहुक्षेत्रीय परंपरा है। ये गीत उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं किंतु अवधी और भोजपुरी में अधिक प्रचलित हैं। इन दोनों क्षेत्रों में इन्हें कजली कहा जाता है। संस्कार के गीतों में सोहर (जन्मगीत), मुंडन, जनेऊ, के गीत और विवाह के गीत प्रायः सभी स्थानों में गाए जाते हैं। मृत्यु के समय प्रायः प्रत्येक क्षेत्र की स्त्रियाँ राग बाँधकर रोती हैं। जातीय गीतों में काफी पृथक्ता होती है, किंतु जहाँ एक ही जाति के लोग अनेक क्षेत्रों में बसे हैं, उनके गीतों की मूल प्रवृत्ति एक जैसी ही है। जैसे, पँवरिया जाति के लोग पँवारा, नट जाति के लोग आल्हा, अहीर जाति के लोग विरहा कई क्षेत्रों में गाते हैं। पद्य गाथाएँ तो प्रायः सभी क्षेत्रों में मिल जाती हैं। ये स्थानीय जननायकों के चरित्रों पर आधारित होती हैं।

प्रायः सभी क्षेत्रों में माताएँ बच्चों को सुलाने के लिए लोरी तथा प्रातः उन्हें जगाने के लिए प्रभाती गाया करती हैं। बालक-बालिकाएँ भी कुछ खेलों में गीतों का सहारा लेती हैं। बहुत से ऐसे खेल भी हैं जिनमें वयस्क स्त्री-पुरुष गीत गाया करते हैं। लोकप्रचलित भजन और श्रमगीत तो सभी क्षेत्रों में गाए जाते हैं। लोकगाथाओं में ऐसी बहुत सी गाथाएँ भी हैं, जो कई क्षेत्रों में बीच-बीच गाई जाती हैं। इन पृथक्ताओं के बावजूद गीतों की प्रवृत्ति एक जैसी ही है जिससे हिंदीभाषी क्षेत्रों की अनेकता एकता में बद्ध दिखाई पड़ती है। नीचे सभी क्षेत्रों के लोकगीतों का संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध परिचय दिया जा रहा है।

राजस्थानी लोकगीत

राजस्थान का लोकगीत साहित्य बहुत घना है। जन्म के गीत सोहर को यहाँ 'हालरा' कहते हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व तक उत्तर प्रदेश के उस क्षेत्र में जहाँ अवधी एवं भोजपुरी बोलियाँ संगम करती हैं, किंगरिहा नाम की जाति पुत्रजन्म पर दरवाजे-दरवाजे जाकर विशेष गीत गाती थी जिसके बोल 'लाले हालरा' हैं। इस क्षेत्र में प्रायः यह गीत अब सुनने को नहीं मिलता। राजस्थान में गाया जाने वाला हालरा समाप्ति के लिए स्वतंत्र हैं। जैसे, 'मारे वीरे जी रे बेटो जायो'। 'झाडूलो' मुंडन के गीतों को कहते हैं। यहाँ प्रत्येक शुभ कार्य की पूर्ति के लिए स्त्रियों द्वारा 'विनायक गीत' गाकर गणेश को प्रसन्न करने की परंपरा है। विवाह में आरंभ से लेकर अंत तक जब जब गीत आरंभ होता है, पहले विनायक वंदना अवश्य होती है - 'गढ़ रणत भँवर सूँ आवो

विनायक।' 'पीठी' गीत लगन आरंभ होने के बाद भावी वर वधू को नियमत: उबटन लगाते समय गाया जाता है – 'मगेर रा मूँग मँगायो ए म्हाँ री पीठी मगर चढ़ावो ए'। विवाह होने के पूर्ववाली रात को यहाँ 'मेहंदी की रात' कहा जाता है। उस समय कन्या एवं वर को मेहंदी लगाई जाती है और मेहंदी गीत गाया जाता है – महंदी वाई वाई बालड़ा री रेत प्रेम रस महंदी राजणी।' विवाह में वर के माथे पर मौर बाँधते समय 'सेवरो' (सेहरा) गाया जाता है – 'महारे रंग बनड़े रा सेवरा'। बारात जब विवाह के लिए चलती है तो दूल्हे को घोड़ी पर बैठाया जाता है। उस समय घोड़ी गीत गाया जाता है। जैसे, – 'घोड़ी बाँधों अगर रे रूंख मोड दरवाजे चंपेरी दोय कलियाँ वे।'

राजस्थानी बोली में कामण नामक एक गीत गाया जाता है। कामण का अर्थ जादू टोना है। यह गीत उस समय गाते हैं जब बारात विवाह के लिए वर के घर से चलती है – 'काँगड़ आया राई वर धरहर कंप्या, राज बूझां सिरदार बनी ने कामण कूण कइया छै राज।' राजस्थानी स्त्रियाँ जब वर एवं बारात, का न्योता देने के लिए जनवासे में जाती हैं अथवा जब वे कुम्हार की चाक पूजने जाती हैं तो 'जलो गीत' गाती हैं जैसे – 'जला जी मारू, म्हे तो थां डेरा निरखण आई हो मिरणा नैणी रा जलाल'। हस्ताधान से लेकर विवाह तक प्राय: प्रतिदिन वर कन्या के घर 'बनड़े बनड़ी' के गीत गाए जाते हैं। जैसे – 'काँची दाख हेठे बनडी पान चावै, फूल सूँघे करे ए बाबेजी, सूँ बीनती।' बधू जब पीहर से विदा होती है तो 'आलूँ' गीत गाया जाता है, जो बहुत ही करुण होता है – 'म्हे थाने पूछाँ म्हाँ री घवड़ी इतरो बाधे जी रो लाड छोड़ र, बाई सिघ चाल्या।' इसी प्रकार 'बधावै' भी विदा गीत ही है।

भात भरना राजस्थान की एक महत्वपूर्ण प्रथा है। इसे 'माहेरा' भी कहते हैं। जिस स्त्री के घर पुत्र या पुत्री का विवाह पड़ता है वह घर की अन्य स्त्रियों के साथ परात में गेहूँ और गुड़ लेकर नैहर वालों को निमंत्रण देने जाती है। इसको 'भात' कहते हैं। मूल रूप में भात भाई को दिया जाता है। भाई के अभाव में पीहर के अन्य लोग 'माहेरा' स्वीकार कर वस्त्र तथा धन सहायता के रूप में देते हैं। इस अवसर पर भात गीत की तरह अनेक गीत गाए जाते हैं। एक प्रसिद्ध गीत की पंक्ति है – 'थारा घोड़लिया शिण गारो, जी मारूंजी भात भरण ने चालो रूड़े भाण जै'। जब बारात ब्याह के लिए चली जाती है तो वर पक्ष की स्त्रियाँ रात के पिछले पहर में 'राती जागो' नामक गीत गाती हैं। देवी-देवताओं के गीतों

में 'माता जी', 'बालाजी' (हनुमान जी), भेरूँ जी, सेड़ल माता, सतीराणी, पितराणी आदि को प्रसन्न करने की भावना छिपी है। सबके अलग-अलग गीत होते हैं।

राजस्थानी स्त्रियाँ कार्तिक शुक्ल पक्ष में तुलसी का त्यौहार मनाती हैं। तीन दिनों का व्रात रखती हैं तथा पूजन के अवसर पर गाती हैं - धन बाई तुलछाँ धन धन थारो नाम। 'धनवाई, तुलछाँ उत्तम काम।' क्वाँरी लड़कियों का त्यौहार गँवर है, जो उत्तम वर की प्राप्ति के लिए चैतमास में होलिकादहन के दूसरे दिन से शुक्ल चतुर्थी तक मनाया जाता है। इसे गणगौर भी कहते हैं। गौरी पूजन करते समय जो गीत गाए जाते हैं उनमें प्रमुख गीत की पंक्ति हैं - 'हे गवरल रूड़ो है न जारो तीखा है नैणां रो, गढ़ां है कोराँ-सूँ गवरल ऊतरी'। गणगौर के प्रसिद्ध मेले में गौरी प्रतिमा की शोभयात्रा निकाली जाती है और गाया जाता है - 'गवर गिण गो माता खोल किवाड़ी।' शीतलाष्टमी के पश्चात मिट्टी के कूँड़े में गेहूँ या जौ बोए जाते हैं, उनकी जई से गौरीपूजा की जाती है। इसके गीत अलग होते हैं। पूजन के लिए फूल चुनते समय अन्य गीत गाए जाते हैं। पूजन करनेवाली कन्याएँ 'घुड़ला' (छिद्रोंवाला घड़ा जिसमें दीपक जलता रहता है) लेकर गाती हुई अपने सगे-संबंधियों के यहाँ जाती हैं। इसे 'घुड़ला घुमाना' कहा जाता है। गीत है - 'घुड़लो घूमै छै जी घूमै छै।' तीज यहाँ का सर्वाधिक प्रिय पावसकालीन पर्व है। जैसे अवधी एवं पूवी हिंदी क्षेत्र में सावन भादों में कजली के लिए स्त्रियाँ पीहर में बुलाई जाती है, उसी प्रकार तीज के अवसर पर राजस्थानी स्त्रियाँ भी नैहर में बुलाई जाती हैं। तीज के गीतों में भाई-बहन के शुद्ध प्रेम के गीत गाए जाते हैं जैसे, 'सुरंगी रूत आई म्हारे देश'। होली के अवसर पर भी लड़कियाँ गीत गाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से गीत हैं। पनिहारी गीत राजस्थान के प्रमुख लोकगीत हैं, जो पनिहारिनों द्वारा सामूहिक रूप से सिर पर जल से भरे घड़े लेकर घर जाते आते गाया जाता है। दांपत्य प्रेम के अनेक गीत हैं। इनमें पक्षी प्रियतम को संदेश ले जाते हैं। वृक्ष भी मनुष्य की तरह बातें करते हैं। बालिकाएँ खेलते समय बड़े सुंदर-सुंदर भोले गीत गाती हैं। राजस्थानी लोकनायकों, वीर सिपाहियों पर आधारित अनेक गीत मिलते हैं, जो विभिन्न धुनों में गाए जाते हैं। 'गोगोजी' रामदेव जी, उमादे (रूठी रानी) की गीतकथा (जो जैसलमेर के रावल लूणकरण की लड़की थी), राजपूत जोर सिंह तथा 'राणा काछवे' के पद्यगीत खूब गाए जाते हैं।

ब्रज के लोकगीत

ब्रजमंडल के निवासियों द्वारा गाए जानेवाले गीत भाषा और भाव की दृष्टि से अत्यंत सरस होते हैं। जन्म के गीतों में सोभर (सोहर), ननद भावज, नेगा के गीत, छठी के गीत और जगमोहन लुगरा नामक गीत प्रसिद्ध हैं। विवाह के गीतों में सगाई, पीली चिट्ठी, लगुन, भात न्योतना, हरद हात, रतजगा, तेल, घूरा पूजन, अछूता, मढ़ावा गाड़ना, भात, ब्याह का दिन, भाँवर, बढ़ार गीत, पलकाचार, रहस बधावा, बंदनवार, मुँहमड़ई, विदा, वरगी वर के घर, बहू नचना, दर्द देवता के गीत, लग्न के गीत, भात के गीत, रतजगे के गीत, सतगढ़ा, लाड़ी, गारी, पलकाचार, खेल के गीत, पूरनमल और छद्म के गीत मुख्य हैं। त्यौहार, व्रत एंव देवी आदि के गीतों में देवीगीत, जाहर पीर, एकादशी का गीत, श्रावण गीत, कार्तिक के गीत, देवठान के गीत और होली उल्लेखनीय हैं। प्रबंध गीतों में पवाँरे, बहुला, सरमन (श्रवण) ढोला, मदारी का ढोला, लवकुश के गीत और हिरनावती अधिक गाए जाते हैं। अन्य गीतों में टेसू माझी के गीत, चट्टों के गीत, तीर्थों के गीत, पुरहे के गीत, सिला बीनने के गीत, बधाया और हीरों का नाम आता है। मृत्यु के समय यहाँ की स्त्रियाँ भी हिंदीभाषी अन्य क्षेत्रों की भाँति पद्यमय रुदन (विलाप) करती हैं।

छत्तीसगढ़ी लोकगीत

छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) क्षेत्र में 'लटिया' (संबलपुर जिले की बोली) और 'खलौटी' (बालाघाट जिले के आस-पास की बोली) का संयुक्त रूप छत्तीसगढ़ी है। देवी गीत, बारहमास, भोजली गीत, ददरिया, डंडा गीत, होली, गहिरागीत, बाँसगीत, पुतरा पुतरी के गीत, मंडप गान, छैला और सोहर, इस क्षेत्र के गीत हैं। बोली के अंतर से देवीगीत, बारहमासा, होली और सोहर अन्य बोलियों के गीतों की भाँति होते हैं। भोजली गीत रक्षाबंधन के दिन गाया जाता है। जैसे उत्तर प्रदेश में कजली के दिनों जई बोई जाती है उसी प्रकार यहाँ भोजली लगाई जाती है। रक्षाबंधन के दिन भोजली का जुलूस निकलता है। भोजली तालाब में सिराई जाती है। पश्चात काफी रात गए एक युवक एवं युवतियाँ गाँव के गुरुजनों का पाँव छूती हैं। गीत इस प्रकार है–

1. माड़ी भर जोंधरी, पोरिस कुसियारे
2. जल्दी जल्दी बढ़ौ भोजली होवा हुसियारे, अहो देव गंगा!

डंडा गीत वर्ष में दो बार, क्वार तथा फागुन में, पुरुषों द्वारा डंडा नृत्य के समय गाया जाता है। नाचते गाते समय गायक एक दूसरे के डंडे पर एक साथ मारते हैं। एक आदमी 'कुट्टी' शब्द का उच्चारण करता है जिसे कुट्टकी पाड़ना कहते हैं। इसके बाद नृत्य के साथ गीत आरंभ हो जाता है। गीत गाते समय 'उई' शब्द से ताल का संकेत किया जाता है।

तिरिहारी नाना भोर नाना री नाना,
कुम्हरा के बोले भैया मितनवाँ मोर वर फैला गढ़ देय।
सब पर गढ़वे ऐसन तेसन मोर बर मन चित लाय।

रावतों द्वारा कार्तिक एकादशी से पूर्णिमा तक गहिरा गीत गाया जाता है। गाते समय लाठी से पैंतरा भी भाँजते हैं। रावत जिनकी गाय चराते हैं, उनके दरवाजे पर जाकर गीत गाते हैं। गाने के पूर्व दुधारू गाय के गले में सुहई (पलाश की जड़ की छाल से बनती है) रक्षा के भाव से बाँधते हैं और तब भीने स्वर में गाते हैं -

धन गोदानी भुइयाँ पावा, पावा हमर असीस।
नाती पूत ले घर भर जावे जीवा लाख बरीस।
बैठो मालिक रंग महल में लेओ हमार असीस। इत्यादि।

रावतों का ही दूसरा गीत बाँस गीत है। कदाचित दो हाथ लंबी-लंबी बाँस की मोटी बाँसुरी के साथ गाए जाने के कारण ही इस गीत को बाँस गीत कहते हैं।

पुतरी पुतरा का गीत विवाह गीत है। अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी स्त्रियों के स्थान पर कुमारियाँ पुतरा पुतरी का ब्याह रचाती हैं और गाती हैं -

नवा बन के हम कनई मँगायेन, वृंदावन के बाँसे हो।
वही बाँस के हम मड़वा छायेन, छड़ गए धरती अकासे हो।।

जब बारात मंडप में आती है तो मंडप गीत गाया जाता है। इसी तरह भाँवर के गीत भी गाए जाते हैं। उपर्युक्त गीतों के अतिरिक्त 'देवारों' द्वारा गीतबद्ध गाथाएँ भी गाई जाती हैं।

गोंडी लोकगीत

सतपुड़ा की घाटियों में बसनेवाली गोंड जाति की गोंडो बोली का लोक-साहित्य काफी धनी है। इस बोली में गीत को 'पाटा' और गाने को 'बराना' कहते हैं। ददरिया, करमा और सुवा इनके प्रमुख लोकगीत हैं।

ददरिया नामक गीत श्रमगीत है, जो महुआ बीनते, लकड़ी तोड़ते, पत्ते बटोरते समय या खेत खलिहान में काम करते समय गाया जाता है। यह अकेले एवं समवेत रूप में भी गाया जाता है। इसकी धुनें इतनी मादक एवं सरस होती हैं कि इस क्षेत्र में इसे 'गीतों की रानी' कहा जाता है। स्त्री और पुरुष में से कोई गीत आरंभ करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। वैसे तो ददरिया कई प्रकार का होता है परंतु पठारी और कछारी नामक ददरिया गीतों को अधिक ख्याति मिली है। महुआ बीनते समय जब स्त्रियाँ ददरिया गाती हैं तो वनप्रांत गूँज उठता है। इसे 'साल्हों' भी कहा जाता है। ददरिया की यह शैली छत्तीसगढ़ के चारों ओर प्रचलित है। मंडला की ओर इसे चाकर कहते हैं। एक उदाहरण है –

युवतीः करे मुखारी करौंदा रुख के
एक बोली सुना दै आपन मुख के।
युवकः एक ठन आमा के दुई फाँकी
मोर आँखीय आँखी झुलते तौर आँखी।

करमागीत

करमागीत की उत्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि प्राचीन काल में करमा नाम का राजा जब किसी विपत्ति में फँसा तो उसने देवता की मनौती की। उसने उस समय जो गाना देवता को प्रसन्न करने के लिए गाया वही करमा गीत कहा जाने लगा। करमा नृत्य भी होता है। छत्तीसगढ़ी रावतगणों द्वारा यह गीत करमसेन देवता को प्रसन्न करने के लिए गाया जाता है। इसके लिए भादों की पूर्णिमा को पर्व मनाया जाता है। इसका प्रचार मंडला, छत्तीसगढ़ और मिरजापुर के अरण्यवर्ती दक्षिणी क्षेत्र में है। करमा, झूमर, करमा लहकी, करमा ठाढ़ा, बैंगनी झूमर और करमा रागिनी इसकी प्रमुख प्राचीन शैलियाँ हैं किंतु अब तो इनमें भी नवीनता का प्रवेश होता जा रहा है। करमा झूमर युवक और युवतियों द्वारा झूम-झूमकर गाया जाता है। करता लहकी एक मादक गीत है। करमा ठाढ़ा खड़े होकर गाया जाता है। बैंगनी झूमर बैगा जाति के लोग गाते हैं। इस समय वे एक साथ नाचते हैं। करमा रागिनी बैठकर गाई जाती है। कुछ लोग बैठकर अलग अलाप लेते हैं और अधिक लोग नाचते हैं। उदाहरण –

बैला चलित राई घाट करौंदे
बैला छोटे छोटे रे –
डोंगर मां आगी लगै जरत है पतेरा

सुन सुन के हीरा मोर जरत है करेजा
बैला छोटे छोटे रे।

सूआ गीत

दीपावली के अवसर पर 'सूआ गीत' गाया जाता है। स्त्रियाँ सज धजकर तथा झुडं बनाकर चलती हैं और उनमें से एक स्त्री अपने सिर पर अनाज से भरी टोकरी लिए रहती है जिसमें मिट्टी के तोते का जोड़ा रखा रहता है। इनमें से एक शिव और दूसरा पार्वती का प्रतीक माना जाता है। स्त्रियों का झुंड टोकरी को लेकर घर-घर घूमकर नाचता जाता है और तेल, चावल तथा पैसे एकत्र करता है जिससे दीवाली के अवसर पर गौरी देवी का विवाहोत्सव मनाया जाता है। रात भर नृत्य गान चलता रहता है और तीसरे दिन तोते के जोड़े को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। उदाहरण -

जाओ रे सुअना चंदन वन, नंदन बन आमा गोंद लइ आव
ना रे सूआ हो आमा गोंद लइ आव
जाए बर जाहों आमा गोंद वर कइसे क लइहों टोर
गोड़न रंगिहा पंखन उड़िहा मुँहे म लइहा टोर

इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में भी कुछ लोक गाथाएँ प्रचलित हैं जिन्हें गद्य के साथ ही बीच-बीच के गानेवाले गाया करते हैं। ऐसे गीत प्राय: कथा में एक पात्र द्वारा दूसरे से कहे जाते हैं। 'अंकुमराजा की कहानी' और 'ढोला की कहानी' प्रमुख पद्यात्मक कहानियाँ हैं।

बुंदेलखंडी लोकगीत

जो लोकगीत उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, बाँदा और हमीरपुर जिले में, ग्वालियर के विस्तृत क्षेत्र में और मध्यप्रदेश के उत्तरी भाग में सागर, जबलपुर, छतरपुर, पन्ना, मंडला, होशंगाबाद और भोपाल के आस-पास गाए जाते हैं, उन्हें बुंदेलखंडी लोकगीत की संज्ञा दी जाती है। फाग, विवाह, सोहर, देवीगीत जैसे व्यापक क्षेत्रवाले गीत यहाँ भी गाए जाते हैं। चूँकि आल्हा, ऊदल, छत्रसाल, हरदौल एवं झाँसी की रानी का यह क्षेत्र रहा है, अत: इन लोकनायकों की लंबी-लंबी वीरगाथाएँ भी लोकगायकों द्वारा गाई जाती हैं। ब्रजभाषा के करीब होने के कारण सूर के अनेक पद यहाँ लोकगीत बन गए हैं और इसी तरह दूसरे गीत भी चलते हैं। बारात लौटने पर वरवधू के स्वागत में जो गीत गाए जाते हैं।

उन्हें कहीं-कहीं 'सगुन चिरैया' भी कहते हैं। एक गीत है 'ब्याह ल्याए रघुवर जानकी जू को'। इसुरी नामक जनकवि द्वारा रचित फाग खूब प्रचलित हैं। यही एक ऐसा क्षेत्र है जिसने लोकगीत (बुझौवल) के माध्यम से अपनी सीमा निर्धारित की है-

भैंस बँधी है ओरछा, पड़ा हुशंगाबाद।
लगवैया है सागरे चपिया (दूध दुहने का पात्र) रेवा पार।।

बैसवाड़ी और बुंदेलखंडी लोकगीतों में काफी साम्य दिखाई पड़ता है।

बघेली लोकगीत

बुंदेलखंडी के समीपवर्ती क्षेत्र रीवाँ, सतना, सीधी, शहडोल, उमरिया, अनूपपुर, सिंगरौली, नागौद, सुहावल, कोठी, अमरपाटन, रामनगर, बीरसिंहपुर, सेमरिया, त्योंथर, रामपुर बाघेलान, नई गढ़ी, हनुमना तथा मैहर के ईद-गिर्द बघेली लोकगीतों का क्षेत्र है। यहाँ भी भाषा का कलेवर बदलकर प्रायः वही गीत गाए जाते हैं, जो अवधी और भोजपुरी बोलियों के क्षेत्र में गाए जाते हैं। बीर पँवारे इधर बहुत चलते हैं। पद्यबद्ध बुझौवल और लोकोक्तियाँ भी खूब मिलती हैं। बुंदेलखंडी की तरह वीरगाथाएँ भी लोकगायकों द्वारा गाई जाती हैं। कजरी, हिंदुरी, बन्ना, फगुआ, बिरहा, अहिरहाई, टप्पा, कर्मा, बधाई, गैलहाई, बेलनहाई, भगत, कोलहाई, बरुआ, अंजुरी, पिसान मडनहाई, पूडी बेलनहाई, गारी, बनरा, दादरा, पारंपरिक गीत, सोहर, विवाह गीत, पँवारे, जनेऊ गीत, देवी के गीत, विदा गीत के अतिरिक्त इस क्षेत्र का अत्यधिक सरल गीत है दादरा - 'कहउँ होतिउँ बदरिया धुमड़ि रहतेउ'। बनाफरी, मरारी तथा पँवारी भी बघेलखंड की उपबोलियाँ हैं। इनके लोकगीत भी बघेली लोकगीतों की तरह ही होते हैं पर बोली एवं लहजे में थोड़ा अंतर आ जाता है। बीएचईएल भोपाल में इंजीनियर के पद पर कार्यरत तथा बघेली के प्रसिद्ध लोकगायक श्री रामकिशोर त्रिपाठी आकाशवाणी भोपाल से बी-हाई ग्रेड हैं तथा निरंतर बघेली लोकगायन करते हैं.

निमाड़ी लोकगीत

मध्यप्रदेश के निमाड़, धार, देवास और इंदौर के आस-पास निमाड़ी बोली बोली जाती है। निमाड़ी किसान खेत में जब हल चलाता है तो गाता है, मजदूर मिट्टी कूटता है तो गाते हुए और स्त्रियाँ दही बिलोती हैं तो गाए बिना नहीं रहतीं। चक्की के गीत, सोहर, नामकरण, मुंडन, जनेऊ और विवाह के गीत यहाँ भी

गाए जाते हैं। इस क्षेत्र के दो गीत सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, जो अन्य क्षेत्रों से भिन्न परंपरावाले हैं 1-विवाह के समय गाए जानेवाले रुदनगीत जो रोते हुए गाए जाते हैं, इसमें स्त्रियाँ पितरों को आमंत्रित करती हुई गाती हैं - "जेय सर ओमा हमारो तो आवणी नी होय।" 2-गनगौर गीत, जो सरसता में अपना सानी नहीं रखते, चौत्र में गाए जाते हैं।

मालवी लोकगीत

मध्यप्रदेश के उज्जैन, शाजापुर, देवास, इंदौर, राजगढ़,ब्यावरा के आसपास मालवी लोकगीत व लोकभजन गाये जाते हैं।

अवधी और भोजपुरी के लोकगीत

अवधी और भोजपुरी के लोकगीतों को एक साथ लिखने का कारण यह है कि दोनों बोलियों में भाषा का अंतर तो अवश्य है, किंतु रीति-रिवाजों, परंपराओं, धर्म, जातियों एवं संस्कृति में अंतर नहीं है जिसके आधार पर लोकगीतों के प्रकार बदला करते हैं। जहाँ ये दोनों बोलियाँ मिलती हैं वहाँ से लेकर दोनों छोर तक बोलियों का भारी अंतर हो जाता है। पर गीतों के प्रकार में काफी साम्य है। संस्कार के गीतों में सोहर, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ, विवाह एवं गौना (बहू विदाई) के गीत दोनों क्षेत्रों में गाए जाते हैं। जातीय गीतों में एक गीत बिरहा है जिसे अहीर जाति के लोग गाते हैं। कुछ बिरहे लंबे होते हैं और कुछ दो-दो, चार-चार पंक्तियों के छोटे बिरहे होते हैं। ऐसे 'बिरहों को' 'पितमा' कहते हैं। लंबे बिरहों में वीर अथवा शृंगार रस की प्रधानता होती है। पौराणिक आख्यानों, वीर चरित्रों पर भी बिरहे होते हैं। डोली ढोते समय कहारों के कहरवाँ गीत श्रमगीत का काम करते हैं और विवाह-शादी तथा कुछ उत्सवों में नृत्य के साथ कहरवाँ गाया जाता है। धोबियों के गीत बिरहे से मिलते-जुलते हैं। ये लोग भी नाच के साथ गीत गाते हैं। चमारों का अपना गीत चनैनी भी एक तरह से नृत्यगीत ही होता है। 'नौवा झक्कड़' नाइयों के गीत को कहते हैं। मल्लाह लोग विवाह-शादियों के 'मलहिया' गीत गाते हैं। यह गीत तब और रंग लाता है जब पूजन के लिए बाँस रगड़ते-रगड़ते उसमें से आग निकलने लगती है। 'गंगा गीत' भी इन्हीं द्वारा गाया जाता है। जब मल्लाह नई नाव बनवाता है तो उसके जलावतरण के समय नदी तथा नाव दोनों की पूजा भिक्षाटन से अर्जित धन से की जाती है। इसमें यह भावना छिपी रहती है कि यदि भिक्षा देनेवालों में एक

भी धर्मात्मा होगा तो नैया दुर्घटनाग्रस्त नहीं होगी। भीख माँगते और पूजा करते समय ये गीत गाए जाते हैं। गीत की हर पंक्ति के अंत में गंगा जी का नाम आता है। तेली जाति के लोग रात में घानी चलाते समय कथात्मक गीत 'बंजरवा' या 'नयकवा' गाया करते हैं। धार्मिक गीतों में देवीगीत, दोनों क्षेत्रों में चलते हैं। मेला गीत मेला अथवा तीर्थयात्रा को जाते समय स्त्रियों द्वारा राह में गाए जाते हैं। श्रमगीतों में जँतसार, जाँत पीसते समय गाया जाता है। ये गीत काफी लंबे एवं प्राय: करुणरस से ओत-प्रोत होते हैं। अब तो गाँवों में भी आटा पीसनेवाली मशीनें पहुँच गई हैं, इसलिए इन गीतों का उठान होता जा रहा है। धनरोपनी के गीत धान रोपते समय ग्राम्याओं द्वारा गाए जाते हैं। 'निरवाही के गीत' खेत की निराई करते समय गाए जाते हैं।

ऋतुगीतों में तीन प्रकार के गीत आते हैं - होली, चैती और कजली। होली की चर्चा ऊपर की गई है। चैती चैत में गाई जाती हैं। चैती गीतों की ऊपर तथा टेक की पंक्तियों में 'हो रामा' शब्द आता है। होली और चैती पुरुषों के गीत हैं। अब से लगभग 20 वर्ष पूर्व एक प्रकार का गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में ही गाया जाता था जिसका नाम था 'मनोरा झूमक'। अब यह गीत सुनने को नहीं मिलता। गीत की एक पंक्ति हैं - 'फागुन जाड़ गुलाबी मनोरा झूमक हो'। पद्मावत में भी आया है - "चहइ मनोरा झूमक होई, फर अउ फूल लिहे सब कोई"।

कजली स्त्रियों का गीत है और पावस काल में गाया जाता है। इसके कई भेद हैं, जैसे टुनमुनियाँ, झूमर, बारहमासा और झूला गीत आदि। इन गीतों में भाई-बहन के विशुद्ध प्रेम की भावनाएँ होती हैं। इस क्षेत्र में भी जननायकों की गाथाएँ लोकनायकों द्वारा गाई जाती हैं। नयकवा, बंजरवा, लोरिकी, विजयमल तथा सोरठी आदि प्रबंध गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। गद्य के साथ लोककथाओं में पद्य कहने की भी परंपरा है, जैसे शीत वसंत, जरेवा परेवा और सदाबृज सारंगा की कथाएँ। अन्य प्रकार के गीतों में लोरियाँ, लचारियाँ दोनों क्षेत्रों में चलती हैं किंतु पूर्वी और बिदेसिया भौजपुरी के लोकगीत हैं।

मैथिली लोकगीत

मैथिली लोकगीत बिहार प्रांत के चंपारन, दरभंगा, पूर्वी मुंगेर, भागलपुर, पश्चिमी पूर्णिया और मुजफ्फरपुर के पूर्वी भाग के ग्रामीणों द्वारा गाए जाते हैं। सोहर, जनेऊ के गीत, संमरि लग्न, गीत, नचारी, समदाउनि, झूमर तिरहुति, बरगमनी, फाग, चैतावर, मलार, मधु श्रावणी, छठ के गीत, स्यामाचकेवा, जट

जटिन ओर बारहमासा यहाँ के मुख्य लोकगीत हैं। सोहर, जनेऊ, फाग, चैतावर आदि का परिचय दिया जा चुका है। 'नचारी' गीत प्रायः शिवचरित्र से भरा रहता है। जैसे – 'उमाकर बर बाउरि छवि घटा, गला माल बघ छाल बसन तन बूढ़ बयल लटपटा'। विद्यापति रचित नचारियाँ खूब गाई जाती हैं। 'समदाउनि' प्रमुख बिदा गीत है। जब लड़की ससुराल जाने लगती है तो यह गाया जाता है, जो अत्यधिक करुण होता है। सीता के देश में इस गीत से यही करुणा उत्पन्न होती है, जो कभी जनक के घर से उमड़ी थी, यथा, 'बड़ रे जतन हम सिया जी के पोसलों से हो रघुबंसी ने जाय आहे सखिया'। इस गीत की बहुत सी धुनें होती हैं। 'झूमर' गीत मुख्य रूप से शृंगारिक होता है और धुनों के अनुसार कई प्रकार से गाया जाता है।

मैथिली क्षेत्र के झूमरों की खास विशेषता है कि उनमें अधिकांश संदेशसूचक होते हैं। हिंडोला के झूमर बहुत सरस होते हैं, जैसे 'छोटका देवर रामा बड़ा रे रंगिलवा, रेसम के डोरियवा देवरा बान्हथि हिंडोरवा'। कुछ में स्त्री-पुरुष के प्रश्नोत्तर होते हैं। 'तिरहुति' गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में गाया जाता है। पहले यह गीत छह पदों का होता था, फिर आठ का हुआ और अब तो काफी लंबा होने लगा है। उसे साहित्य में तथा लोकजीवन में मान्यता भी मिल गई है। इसमें प्रायः विरह भावनाएँ होती हैं- 'मोंहि तेजि पिय मोरा गेलाह विदेस'। साहब राम, नंदलाल, भानुनाथ, रमापति, धनवति, कृष्ण, बुद्धिलाल, चंद्रनाथ, हर्षनाथ एवं बबुज ने नामक प्राचीन लोककवियों के तिरुहुति खूब गाए जाते हैं। हर्ष की बात है कि तिरुहुति के प्राचीन रचनाकारों का नाम भी गीतों के साथ ही जा रहा है जबकि अन्य गीतों के साथ यह बात नहीं है। बटगमनी (पथ पर गमन करनेवाली) मुख्य रूप से राह का गीत है। मेले ठेले में जाती ग्राम्याएँ, नदी किनारे से लौटती हुई पनिहारिनें प्रायः बटगमनी गाया करती हैं। इस गीत का एक नाम सजनी भी है। इसमें संयोग और वियोग दोनों भावनाएँ होती हैं। गीत की पंक्ति है – 'जखन गगन धन बरसल सजनि गे सुनि हहरत जिव मोर'। पावस ऋतु में स्त्रियाँ बिना बाजे के और पुरुष बाजे के साथ मलार गाते हैं। जैसे – कारि कारि बदरा उमड़ि गगन माझे लहरि बहे पुरवइया।

मधुश्रावणी गीत इसी नाम के त्योहार के समय गाया जाता है, जो श्रावण शुक्ल तृतीया को पड़ता है। मधुश्रावणी नवविवाहितों का भविष्यबोधक है। इस पर्व पर एक भयंकर विधि इसलिए की जाती है कि विवाहिता अधिक दिनों तक सधवा रहेगी या नहीं। उसे दीपक से जला दिया जाता है। यदि छाला खूब उभरता

है तो शुभ है। छठ के गीत - सूर्यषष्ठी व्रत (कार्तिक शुक्ल षष्ठी) के उपलक्ष्य में गाए जाते हैं। कहीं-कहीं चैत्र शुक्ल षष्ठी को भी यह व्रत पड़ता है। छठ के गीत पूर्णतः धार्मिक गीत हैं और सौभाग्य तथा पतिप्रेम के दायक है। स्त्रियाँ गाती हैं - 'नदिया के तीरे तीरे बोअले में राइ। छठी माई के मृगा चरिय चरि जाइ।' स्याम चकेवा एक खेल गीत है, जो कार्तिक शुक्ल सप्तमी से कार्तिक पूर्णिमा तक खेल में गाया जाता है। स्यामा बहन और चकेवा भाई के अतिरिक्त इस खेल के चंगुला, सतभइया, खंडरित्र, झाँझी बनतीतर कुत्ता और वृंदावन नामक छह और पात्र हैं। खेल भाई-बहन के विशुद्ध प्रेम का पोषक है। बहनें गाती हैं - किनकर हरिअर हरिअर दिभवा गे सजनी। जट जटिन एक अभिनय गीत है। जट (पुरुष पात्र) एक तरफ और जटिन (स्त्री पात्र) दूसरी ओर सज-धजकर खड़ी होती हैं। दोनों ओर प्रधान पात्रों के पीछे पंक्तिबद्ध स्त्रियाँ खड़ी हो जाती हैं। इसके बाद जट जटिन का सवाल जवाब गीतों के माध्यम से आरंभ हो जाता है। ये गीत शरद निशा में गाए जाते हैं।

कुमाऊँनी लोकगीत

कुमाऊँनी लोकगीत मध्य हिमालय के नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल, टेहरी, पिथौरागढ़, चमौली और उत्तर काशी में रहनेवाली पर्वतीय जातियों के गीत हैं। इन गीतों को दो भागों में बाँटा जा सकता हैं- 1-संस्कार के गीत, जो नारियों द्वारा पुत्रजन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत एवं विवाह के समय गाए जाते हैं, तथा 2-मेलों, त्योहारों और ऋतुओं के गीत। इस क्षेत्र के प्रायः सभी संस्कार शंकुनाखर गीत से आरंभ होते हैं। इनमें गणेश, ब्रह्मा, राम तथा अन्य देवताओं से कार्यसिद्धि की प्रार्थना की जाती है। गीतों में मनुष्य, पशु-पक्षी संदेशवाहक का कार्य करते दिखाई पड़ते हैं, जो देवी-देवताओं के अतिरिक्त दूरस्थ संबंधियों का भी संदेश ले जाते हैं। बिदाई के गीत अन्य स्थानों की तरह ही मार्मिक होते हैं।

दूसरे प्रकार के गीतों में झोड़ा, चाँचरी भगनौल और बैर प्रमुख हैं। इन गीतों में सामाजिक जीवन एवं समस्याओं की विशेष चर्चा रहती है। ये विभिन्न मेलों एवं उत्सवों के अवसर पर गाए जाते हैं। इन्हें कई गायक अथवा गायिकाएँ मिलकर गाती हैं। ऋतुगीतों को यहाँ 'ऋतुरेण' कहते हैं। ये गीत चैत मास में गाए जाते हैं। ऋतुरेण में मंगलसूचक एवं प्राकृतिक सौंदर्य की बहुलता होती है। ग्रामगायक 'औजी', जिन्हें ढ़ोली भी कहते हैं, एक गीतबद्ध कथा सुनाते हैं, जो भाई-बहन के विशुद्ध स्नेह पर आधारित हैं। 'हंडुकिया बोल' यहाँ के किसानों

का गीत है। यह गीत धान की रोपाई के अवसर पर नर-नारियों द्वारा गाया जाता है। इनमें स्थानीय नायकों (राणरौत रामीबौर हिसहित आदि) की गाथाएँ बद्ध होती हैं। प्रेम के फुटकर गीत भी खूब चलते हैं। बरुँश नामक लाल फूल प्रेमी का प्रतीक माना जाता है। अत: कई गीतों में इसका नाम आता है, जैसे, 'पारा डाना बुरुंशी फुलै छ, में जे कौनूं मेरि हिरु ए रे छ।' नैनीताल से लेकर काठगोदाम तक के बीच के पर्वतीय क्षेत्र में एक अलिखित लोक महाकाव्य प्रचलित है जिसका नाम है 'मालूसाही'। कुमाऊँनी लोक-साहित्य में इसके टक्कर की कोई रचना है ही नहीं। धर्मगाथाओं के अंतर्गत 'जागर' (जागरण) गीत अधिक प्रचलित हैं। उत्तर काशी, पिथौरागढ़ एवं चमौली में प्रचलित पांडव नृत्य के समय जागर गीत गाए जाते हैं। इसमें महाभारत के विभिन्न आख्यान गीतबद्ध होते हैं। यह गीत क्रमश: द्रुततर होता जाता है। इसके अंतर्गत किसी एक व्यक्ति पर देवात्मा की अवतारणा की जाती है। जब वह आत्मा उसके ऊपर अवतरित होती है, वह उठकर नाचनेगाने लगता है। भोलानाथ, एड़ी, ग्वाला आदि ग्रामदेवताओं के 'जागर' के अतिरिक्त नंदादेवी का 'वैसी जागर' इतना लंबा होता है कि वह 22 दिनों में समाप्त होता है। 'घोड़ी नृत्य' गीत भी चलता है। इसमें बाँस पर 'ओहार' (पर्दा) डालकर घोड़ी बनाई जाती है जिसके बीच में नर्तक इस तरह खड़ा होकर घोड़ी को कमर से पकड़ता है कि वह सवार जैसा मालूम होता है। नर्तकों का जोड़ा तलवार भाँजता है, गायक गीत गाते हैं। 'भड़ौ' नामक गीत प्राचीन जातीय वीरों, जिनमें दिगोली भाना, काले कहेड़ी, नागी भागी भल, सुपिया रौत और अजुआ बफौल आदि के वृत्तांत होते हैं, वीरगाथाओं के रूप में गाया जाता है।

4

लोकगाथा

लोकगाथा या कथात्मक गीत, अंग्रेजी में 'बैलेड' शब्द से अभिहित हैं। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन के 'वेप्लेर' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'नृत्य करना'। कालांतर में इसका प्रयोग केवल लोकगाथाओं के लिए किया जाने लगा। अंग्रेजी साहित्यकार इसकी ओर अधिक आकृष्ट हुए और यह अंग्रेजी साहित्य का लोकप्रिय काव्यरूप ही बन गया।

लोकगाथा की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। किंतु परिभाषाओं में कुछ सर्वसामान्य तत्त्व विद्यमान हैं। इस विषय में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार ये हैं -

जी.एन. किटरेज ने लोकगाथा को कथात्मक गीत अथवा गीतकथा कहा है। फ्रैंक सिजविक लोकगाथा को सरल वर्णनात्मक गीत मानते हैं, जो लोकमात्र की संपत्ति होती है और जिसका प्रसार मौखिक रूप से होता है। प्रो. एफ.बी. गुमेर ने इनकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार लोकगाथा गाने के लिए लिखी गई ऐसी कविता है, जो सामग्री की दृष्टि से प्रायः व्यक्तिशून्य रहती है और संभवतः उद्‌भव की दृष्टि से सामुदायिक नृत्यों से संबद्ध रहती है पर इसमें मौखिक परंपरा ही प्रधान है। डा. मेर लोकगाथा को छोटे-छोटे पदों में रची कविता मानते हैं जिसमें कोई लोकप्रिय कथा विस्तार से कही गई हो। लूसी पौंड लोकगाथा को एक साधारण कथात्मक गीत मानते और इसकी उत्पत्ति को संदिग्ध बताते हैं।

इसका तात्पर्य यह कि लोकगाथाओं में गीतात्मकता अनिवार्य तत्त्व है। कथानक प्रभावशाली और विस्तृत होता है। पर वह व्यक्तित्वविहीन होती है अर्थात् उनके रचयिताओं का पता नहीं होता। ये समाज के किसी वर्ग और व्यक्ति विशेष से संबद्ध नहीं हैं अपितु, संपूर्ण समाज की धरोहर हैं। इनका उद्‌भव जनसाधारण की मौखिक परंपरा से होता है। काव्यकला के सौंदर्य और गुणों का इनमें अभाव रहता है।

भारतीय लोकगाथाएँ

भारत में लोकगाथाओं की बड़ी ही व्यापक और दीर्घ परंपरा पाई जाती है परंतु इसकी कोई निश्चित संज्ञा नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में इनके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। महाराष्ट्र में इन्हें 'पाँवड़ा', गुजरात में 'कथागीत' तथा राजस्थान में 'गीतकथा' कहते हैं। भारतीय लोकगाथाओं के अनेक प्रकार हैं। स्थूल रूप से इनका वर्गीकरण विषय तथा आकार की दृष्टि से किया जा सकता है। आकार की दृष्टि से ये रचनाएँ लघु और बृहंद् दोनों प्रकार की पाई जाती हैं। बृहद् गाथाओं का आकार कभी-कभी प्रबंध काव्यों के समान भी पाया जाता है। किंतु लोकगाथाओं का वास्तविक वर्गीकरण विषय की दृष्टि से ही समीचीन होगा। डा. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार ये त्रिविध हैं–

1. प्रेमकथात्मक गाथा,
2. वीरकथात्मक गाथा,
3. रोमांच कथात्मक गाथा।

प्रथम कोटि की लोकगाथाओं में प्रेम संबंधी वर्णन ही अधिक रहता है। प्रणय में उत्पन्न अनेक घटनाएँ एक स्थान पर सँजो दी जाती हैं। इनमें प्रेम विषम परिस्थिति में उत्पन्न होता है तथा उसी में पलता और बढ़ता है। इसी कारण संघर्ष की अवस्था अनिवार्य होती है। भोजपुरी लोकगाथाओं में 'कुसुम देवी', 'भगवती देवी' और 'लचिया' की गाथाएँ इसी प्रकार की हैं। बिहूला बाला लखंदर, 'शोभानयका बनजारा' तथा भरथरी चरित में वियोग की शीर्षावस्था के दर्शन होते हैं। राजस्थान में प्रचलित 'ढोला मारू' की गाथा तथा पंजाब की 'हीर राँझा' एवं 'सोहनी महीवाल' नामक गाथाएँ हृदय को रसमान कर देने में पूर्ण सक्षम हैं।

द्वितीय वर्ग की गाथाएँ वीर कथात्मक गाथाएँ हैं। इन लोकगाथाओं में किसी वीर के साहसपूर्ण कौशल का वर्णन अभीष्ट होता है। इस प्रकार की लोकगाथाओं में प्रायः उसी वीर पुरुष के चरित्र को उभारा जाता है, जो नायक

होता है। कहीं तो वह किसी आपद्ग्रस्त नारी की रक्षा करते हुए दिखाई पड़ता है, कहीं न्याय की विजय के लिए अन्याय से संघर्ष करता हुआ। इस प्रकार की गाथाओं में 'आल्हा- सर्वश्रेष्ठ है। 'लोरिकायन' तथा 'कुँवर विजयमल' की गाथाएँ भी इसी कोटि में आती हैं।

तृतीय प्रकार की गाथाओं में रोमांच या रोमांस की प्रधानता होती है। इस प्रकार की गाथाएँ प्राय: नायिका प्रधान पाई जाती हैं। नायिकाओं का लौकिक जीवन रोमांचकारी घटनाओं से भरा हुआ होता है। इस कोटे में प्रमुख रूप से दो लोकगाथाएँ उल्लेखनीय हैं - 'सोरठी' तथा 'विहुला बाला लखंदार'। इनका मुख्य उद्देश्य सत्य की असत्य पर विजय हैं।

डा. सत्यव्रत सिन्हा ने इन तीनों के अतिरिक्त एक और वर्ग माना है - योगकथात्मक लोकगाथाएँ।

कथा में नायक बाद में योग धारणकर जोगी बन जाते हैं और सभी सुख-सुविधाएँ छोड़कर संसार से विरक्त हो जाते हैं। इन्होंने इस कोटि के अर्न्तगत 'राजा भरथरी' तथा 'राजा गोपीचंद्र' की गाथाओं को अलग से स्थान दिया है।

प्रमुख गाथाओं का संक्षिप्त विवरण

विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रधान रूप से कुछ प्रमुख लोकगाथाएँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ हृदयग्राही लोकगाथाओं का विवरण इस प्रकार है -

सोरठी

यह एक प्रेमगाथा है। अपनी अतीत लोकप्रियता के कारण यह भोजपुरी अंचल में खूब प्रचलित है। इसमें 'सोरठी' नायिका तथा 'बृजमार' नायक के प्रेम-प्रसंगों का बड़ा ही विस्तृत और प्रभावशाली वर्णन दृष्टिगोचर होता है। सोरठी जन्म के बाद अपने माता-पिता से बिछुड़ जाती है और एक कुम्हार के यहाँ पाली पोसी जाती है। इसी सोरठी को प्राप्त करने के लिए बृजामार अनेक प्रयत्न करता है। प्राय: इसे एक साथ दो व्यक्ति गाते हैं। इसके प्रकाशित रूप भोजपुरी तथा मैथिली में उपलब्ध हैं। यह मगही में भी गाई जाती हैं।

शोभा नायका बंनजारा

भारतीय बनजारों के जीवन से संबंधित यह प्रेमकथा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है। इसका नायक शोभा नायक है, जो व्यापार के लिए मोरंग देश जाता है, तथा

इसकी नायिका जसुमति है। विरह और पतिव्रत धर्म का इस गाथा में बड़ा ही मनोहारी वर्णन है। इसमें सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों एवं अनेक कौटुंबिक पहलुओं पर रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है। इस लोकगाथा के मैथिली, मगही तथा भोजपुरी रूप मिलते हैं।

आल्हा

अपने मूल रूप में यह बुंदेलखंडी लोकगाथा है। इसका संबंध चारण काल से भी माना जाता है। इसके रचयिता के रूप में 'जगनिक' का नाम लिया जाता है। इस लोकगाथा के नायक आल्हा और ऊदल नामक वीरों का संबंध महोबे के राजा परमर्दिदेव से है। महोबे का पक्ष लेकर इन दोनों वीरों ने अनेक भयानक युद्ध किए तथा उस काल के प्रसिद्ध वीर पृथ्वीराज चौहान को भी परास्त किया। इस लोकगाथा में वीररस की प्रधानता है और यह ढोल एवं नगाड़े पर गाई जाती है।

लोरिकी

यह मुख्य रूप से अहीरों की लोकगाथा है। भोजपुरी अंचल में अहीर लोग उत्सवों तथा शुभ अवसरों पर लोरिकी बड़े उत्साह से गाते हैं। नायक लोरिक के शौर्य से ही यह गाथा भरी पड़ी है। लोरिक का चरित्र प्रधान होने से यह लोकगाथा लोरिकी के नाम से अभिहित हुई। लोरिक का मुख्य उद्देश्य सती स्त्रियों का उद्धार तथा दुष्टों का विनाश करना था। चार खंडों में यह लोकगाथा गाई जाती है। इसमें वीरकाव्य के सभी गुण विद्यमान है। यद्यपि यह मुख्य रूप से भोजपुरी प्रदेशों में ही गाई जाती है पर इसे भिन्न-भिन्न रूप मैथिली, छत्तीसगढ़ी तथा बँगला में भी मिलते हैं।

विजयमल

इसमें विजयमल का मल्ल क्षत्रियों के प्रतिनिधि के रूप में चित्रण किया गया है। यह भी एक वीरगाथा है जिसमें युद्ध के वर्णन के साथ मल्ल क्षत्रियों के शौर्य का विशेष उद्‌घाटन किया गया है। इसमें विवाह के कारण युद्ध हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह लोकगाथा मध्य युगीन हो।

बाबू कुँवरसिंह की लोकगाथा

यह भोजपुरी प्रदेशों में बड़े उत्साह और शौर्यप्रदर्शन के साथ गाई जाती है। यह अमर गाथा भोजपुरी वीरता का प्रतिनिधित्व करती है। बाबू कुँवरसिह बिहार

के शाहाबाद जिलातर्गत भोजपुरी गाँव के रहनेवाले थे। आप एक छोटे से राज्य के शासक थे। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में आप अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। यह गाथा इतनी प्रभावकारी है कि जहाँ एक ओर श्रोता वीरता से झूमने लगते हैं, वहाँ आठ-आठ आँसू भी बहाते देखे जाते हैं। बाबू कुँवर सिंह का विशेष सम्मान आज भी भोजपुरी अंचलों में किया जाता है, क्योंकि उन्होंने अंग्रेजों से लोहा लेकर स्वतंत्रता के संग्राम में देशवासियों का साथ दिया था।

बिहुला

इस लोकगाथा को बिहुला बाला लखंदर के नाम से भोजपुरी अंचल में सुना जा सकता है। इसमें स्त्रियों की पतिव्रता का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण हुआ है। वहाँ इसका स्थान सावित्री सत्यवान से किसी भी स्थिति में कम नहीं है। बिहुला अपने पति बाला लखंदर को, जिसे, साँप काट खाता है, बचाने के लिए स्वर्ग जाती है और वहाँ अपने अभीष्ट को प्राप्त करती है। पूर्वी बिहार और बंगाल में नागपंचमी के दिन बिहुला सती की पूजा होती है। गायक इस गाथा को बड़ी ही श्रद्धा के साथ गाते हैं। स्त्रियों में यह गाथा अधिक लोकप्रिय है। इस लोकगाथा का मैथिली और बँगला रूप भी मिलता है।

राजा गोपीचंद

राजा गोपीचंद का नाम नाथ संप्रदाय के अंतर्गत एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। नौ नाथों में इन्हें भी एक नाथ का स्थान प्राप्त था। इनकी गाथा विशेष रूप से जोगियों में ही प्रचलित है। गोपीचंद राजपाट, भोगविलास सब कुछ छोड़कर माता मैनावती के कहने पर वैराग्य ग्रहण करने वन में चले गए। उनके इस त्याग की कथा ही प्रस्तुत लोकगाथा में प्रचलित है। भारतवर्ष की प्रायः समस्त जनपदीय बोलियों में गोपीचंद की गाथा प्रचलित है। चूँकि गोपीचंद का संबंध बंगाल के पालवंश से था, इसलिए इस गाथा का सबसे अधिक प्रचलन बंगाल में है। यह लोकगाथा भोजपुरी, मगही, मैथिली, पंजाबी, सिंधी इत्यादि में भी पाई जाती है।

राजा भरथरी

राजा भरथरी भी नाथपंथी थे। नौ नाथों में इनका भी नाम लिया जाता है। राजा भरथरी और रानी सामदेई का वृत्तांत ही इस लोकगाथा का वर्ण्य विषय है।

इसे प्रायः जोगी लोग ही गाते हैं। राजा भरथरी का संबंध उज्जैन के राजवंश से था। किन्हीं कारणों से कालांतर में इन्होंने गुरु गोरखनाथ का शिष्यत्व स्वीकार क्रर लिया और अपनी युवा रानी को छोड़कर योगी बन गए। इनके कई ग्रंथ भी मिलते हैं। ऐसी धारणा है कि ये राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई तथा राजा गोपीचंद के भांजे थे।

लोकगाथाओं की विशेषताएँ

ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी देशों की लोकगाथाओं की विशेषताएँ प्रायः समान हैं। लोकगाथाओं की ये विशेषताएँ ही प्रायः उन्हें अलंकृत काव्य से पृथक् करती हैं। मुख्य विशेषताएँ हैं -

1. रचयिता का पता न होना,
2. प्रामाणिक मूल पाठ का न मिलना,
3. संगीत और कभी-कभी नृत्य की अनिवार्य स्थिति,
4. स्थानीय प्रभाव,
5. मौखिक स्थिति,
6. अलंकृत शैली के अभाव के साथ-साथ स्वाभाविकता का पुट,
7. उपदेशों का अभाव,
8. रचयिता के व्यक्तित्त्व का अभाव,
9. लंबी कथावस्तु,
10. टेक पदों की बार-बार आवृत्ति,
11. ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्धता।

लोकगाथाओं की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनके रचयिता अज्ञात हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके रचयिता लापरवाह थे और लंबी लोककथाओं की रचना के बाद अपना नाम देना भूल जाते थे। यही कारण है कि परंपरा से चली आ रही लोकगाथाओं में जब लोग अपने बनाए हुए पद जोड़ देते हैं तब पता ही नहीं चलता। इन लोकगाथाओं में तत्कालीन सामाजिक स्थिति की झलक मिलती है।

लोकगाथाओं के प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव मिलता है। रचयिता के अज्ञात होने के कारण यह स्वाभाविक भी है। प्राप्त लोकगाथाओं के रचयिता एक बार लोकगाथाओं का सूत्रपात करके उन्हें समाज को सौंप देते तथा स्वयं हट जाते हैं और उसके बाद लोकगाथाओं की एक ऐसी निरंतर धारा प्रवाहित होने लगती

है जिसका कभी अंत नहीं होता। लोकगाथाओं को प्रत्येक युग अपनी निजी संपत्ति समझता है और प्रत्येक गवैया अपनी इच्छानुसार कुछ पंक्तियाँ भी जोड़ देता है। जैसे-जैसे ये लोकगाथाएँ एक गवैये से दूसरे गवैये के पास जाती हैं, इनमें परिवर्तन होता जाता है। इस प्रकार इन के प्रामाणिक पाठ का मिलना नितांत असंभव हो गया है।

लोकगाथाओं में संगीत की स्थिति अनिवार्य होती है। चूँकि इनमें सूक्ष्म भावों की व्यंजना नहीं पाई जाती, इसलिए इनमें साहित्यिकता का अभाव होता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय लोकगाथाओं में प्रायः नृत्य का समावेश अनिवार्य था, तथापि धीरे-धीरे यह गौण होता गया और आज तो दिखाई ही नहीं पड़ता।

लोककथाएँ चाहे जहाँ की भी हों, स्थान विशेष पर पहुँचकर वहाँ की विशेषताएँ अपना लेती हैं। उनका निर्माण प्रायः किसी घटना के कारण होता है और इनमें तद्देशीय वातावरण एवं स्थानीयता का समावेश हो जाता है। 'लोरिकी' में बिहार के कई गाँवों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। 'ढोलामारू' की लोकगाथा में ऊँट का विशेष महत्व है क्योंकि वहाँ का यातायात साधन ऊँट ही है। पर्वतीय अंचलों में चूँकि सर्दी अधिक पड़ती है अतएव वहाँ की बालाएँ अपने पिता से कहती हैं कि (लोकगाथाओं के अंतर्गत) मेरा ब्याह ऐसी जगह मत कीजिएगा जहाँ गर्मी अधिक पड़ती हो और पसीने से परेशान हो जाऊँ। मैथिली लोकगाथाओं में वहाँ की स्थानीय प्रथाओं की झाँकी मिलती है।

भारत में मौखिक परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। वेद साहित्य भी इसी परंपरागत गुरु शिष्यों के माध्यम से आगे बढ़ता रहा और बाद में लिपिबद्ध किया गया। लोकगाथाएँ लिपिबद्ध नहीं होती थीं, अपितु मौखिक परंपरा के रूप में ही चली आ रही हैं। वास्तव में इनकी महत्ता भी तभी तक है जब यह लिपिबद्ध न हों। लिपिबद्ध होने के पश्चात् इनका विस्तार रुक जाता है तथा इनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। कारण यह है कि जब तक ये मौखिक परंपरा में रहती हैं तब तक तो लोक की सामग्री रहती है पर जब लिपिबद्ध हो जाती है तब साहित्य की संपत्ति हो जाती है।

लोकगाथाएँ हृदय का धन होती हैं। इनमें अपने आप ही माधुर्य और स्वाभाविकता आ जाती है। इनमें अलंकृत शैली के अभाव का कारण यह है कि यह किसी व्यक्ति विशेष की संपत्ति न होकर संपूर्ण समाज की संपत्ति होती हैं। इनकी उत्पत्ति चूँकि प्राचीन काल से है तथा उस समय अलंकृत रूप का विकास नहीं हुआ था इसलिए अलंकृत शैली का अभाव स्वाभाविक है।

लोकगाथाओं में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का नितांत अभाव पाया जाता है। लोकजीवन का संपूर्ण चित्र उपस्थित करना ही प्रायः उनका उद्देश्य होता है। लोकगाथाओं का गायन मात्र ही गायकों का कार्य होता है। उससे कुछ प्राप्त कर लेना श्रोताओं का कार्य हैं।

लोकगाथाओं में लेखक के व्यक्तित्त्व का पूर्ण अभाव पाया जाता है। चूँकि इन गाथाओं के रचयिता के बारे में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कोई एक विशिष्ट व्यक्ति है, इसलिए उसके व्यक्तित्त्व का प्रभाव भी समाज पर नहीं पड़ता। इनमें केवल विषय की प्रधानता होती है, लेखक के व्यक्तित्त्व का अस्तित्त्व नहीं होता।

इन गाथाओं का कथानक अत्यंत विस्तृत होता है। चूँकि कथात्मक गीतों को ही लोकगाथा कहते हैं इसलिए स्वभावतः कथा के विस्तार के साथ ही गाथा का विस्तार भी बढ़ जाता है।

इसके विस्तार का दूसरा कारण यह हो सकता है कि इसे समाज अपनी संपत्ति समझता है और मनमाने ढंग से सभी इसमें कुछ न कुछ बढ़ा देते हैं। चूँकि लोकगाथाओं का उद्देश्य केवल कथा कहना होता है इसलिए ये अतीव लंबी हो जाती हैं।

लोकगाथाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता उसके टेक पदों की पुनरावृत्ति है। गाथा को आनंददायक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए गीतों को बराबर दुहराकर गाने का प्रचलन पाया जाता है। इनकी इस प्रवृत्ति से यह विदित होता है कि ये गाथाएँ सामूहिक रूप से गाई जाती थीं। इस प्रवृत्ति से कुछ लाभ भी हैं। गाथाओं के गायन के लिए जब दो वर्ग एकत्र होते हैं तब टेक पदों की पुनरावृत्ति से वातावरण ओजस्वी हो जाता है तथा दूसरा समूह भी ऊब से बच जाता है। इस प्रवृत्ति से श्रोताओं को भी आनंद की अनुभूति होती है और गायक भी राहत तथा उत्साह अनुभव करते हैं।

इन लोकगाथाओं की ऐतिहासिकता तो होती नहीं और यदि किसी प्रकार कहीं इनका ऐतिहासिक आधार मिल भी गया तो वह संदिग्ध होता है। 'आल्हा', 'राजा गोपीचंद', 'राजा भरथरी', 'बाबू कुँवर सिंह' इत्यादि लोकगाथाओं का इतिहास से कुछ समर्थन मिलता है पर कुछ का कोई सूत्र नहीं मिलता। उदाहरणार्थ 'शोभानायक, बनजारा', 'लोरिकी' सोरठी इत्यादि का इतिहास में कोई वर्णन नहीं मिलता।

5

लोककथा

लोककथाएँ वे कहानियाँ हैं, जो मनुष्य की कथा प्रवृत्ति के साथ चलकर विभिन्न परिवर्तनों एवं परिवर्धनों के साथ वर्तमान रूप में प्राप्त होती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कुछ निश्चित कथानक रूढ़ियों और शैलियों में ढली लोककथाओं के अनेक संस्करण, उसके नित्य नई प्रवृत्तियों और चरितों से युक्त होकर विकसित होने के प्रमाण है। एक ही कथा विभिन्न संदर्भों और अंचलों में बदलकर अनेक रूप ग्रहण करती हैं। लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी हमें मानव की परंपरागत वसीयत के रूप में प्राप्त हैं। दादी अथवा नानी के पास बैठकर बचपन में जो कहानियाँ सुनी जाती हैं, चौपालों में इनका निर्माण कब, कहाँ, कैसे और किसके द्वारा हुआ, यह बताना असंभव है। डॉ. रवीद्र के अनुसार यद्यपि दादी-नानी से और दादा-नाना से ज्यादा कहानियाँ सुनाते हैं लेकिन फिर भी दादी-नानी को ही ज्यादा महत्ता देना भी विरासत में चली आ रही परिपाटी का ही परिणाम है।

लोककथाओं की प्राचीनता

कथाओं की प्राचीनता को ढूँढ़ते हुए अंत में अन्वेषक ऋग्वेद के उन सूक्तों तक पहुँचकर रुक गए हैं जिनमें कथोपकथन के माध्यम से 'संवाद-सूक्त' कहे गए हैं। पीछे ब्राह्मण ग्रंथों में भी उनकी परंपरा विद्यमान है। यही क्रम उपनिषदों में भी मिलता है, किंतु इन सबसे पूर्व कोई कथा या कहानी थी ही नहीं, ऐसा

नहीं कहा जा सकता। प्रश्न उठता है, जो प्रथाएँ उन सब में आई हैं उनका उद्‌गम कहाँ है? जहाँ उनका उद्‌गम होगा लोककथाओं का भी वही आरंभिक स्थान माना जाना चाहिए। पंचतंत्र की बहुत सी कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में जनजीवन में प्रचलित हैं। किंतु यह भी सही है कि जितनी कथाएँ (पंचतंत्र के प्रकार की) लोकजीवन में मिल जाती हैं उतनी पंचतंत्र में भी नहीं मिलतीं। यदि यह कहा जाए कि विष्णु शर्मा ने लोकजीवन में प्रचलित कथाओं से लाभ उठाया होगा तो कोई, अनुपयुक्त बात नहीं होगी। हितोपदेश, बृहदश्लोक संग्रह, बृहत्कथा मंजरी, कथा बेताल पंचविंशति आदि का मूल लोकजीवन है। जातक कथाओं को अत्यधिक प्राचीन माना जाता है। इनकी संख्या 550 के लगभग है, किंतु लोककथाओं की कोई निर्धारित संख्या नहीं है। प्राकृत भाषा में भी अनेक कथाग्रंथ हैं। मूल पैशाची में लिखित 'बहुकहा' कथा सरित्सागर, बृहत्कथा आदि का उपजीव्य बनी। संस्कृत में उसकी कुछ कथाएँ रूपांतरित हुई। अपभ्रंश के 'पउम चरिअ' और 'भविशयत्त कहा' भी इस क्रम में आती हैं। इस तरह लिखित रूप में वैदिक संवाद सूक्तों से प्रवाहित कथाधारा निरंतर प्रवाहित है, किंतु इन सबका योग भी लोकजीवन में प्रचलित कहानियों की बराबरी तक नहीं पहुँच सकता।

हिन्दी लोककथाएँ

हिंदी लोककथाओं के अध्ययन से इनकी कुछ अपनी विशेषताओं का पता चलता है। मनुष्य आदिकाल से सुखों की खोज में लगा हुआ है। सुख लौकिक एंव पारलौकिक दोनों प्रकार के हैं। भारतीय परंपरा में पारलौकिक को लौकिक से अधिक ऊँचा स्थान दिया जाता है। 'अंत भला तो सब भला' के अनुसार हमारी लोककथाएँ भी सुखांत हुआ करती हैं। शायद ही ऐसी कोई कथा हो जो दु:खांत हो। चिर प्राचीन काल से ही भारतीय लोककथाओं की यही मुख्य प्रवृत्ति रही। इसलिए लोककथाओं के पात्र अनेक साहसिक एवं रोमांचकारी घटनाओं से होकर अंत में सुख की प्राप्ति करते हैं। संस्कृत के नाटकों की भाँति इनका भी अंत संयोग में ही होता है। ये कथाएँ मूल रूप में मंगलकामना की भावनाएँ लेकर आई। इसीलिए लोककथा कहनेवाले प्राय: कथाओं के अंत में कुछ मंगल वचन भी कहा करते हैं। जैसे - "जिस प्रकार उनके (कथा के प्रमुख पात्र के), दिन फिरे, वैसे ही सात दुश्मन (बहुत बड़े शत्रु) के भी दिन फिरें।"

विभिन्न प्रकार के दैविक एवं प्राकृतिक प्रकोपों का भय दिखाकर श्रोताओं को धर्म तथा कर्तव्य पालन के पथ पर ले आना भी बहुत सी लोककथाओं का लक्ष्य होता है। सारी सृष्टि उस समय एक धरातल पर उतर आती है जब सभी जीव-जंतुओं की भाषा एक हो जाती है। कहीं मनुष्य पशु से बात करता है तो कहीं पशु पक्षी से। सब एक दूसरे के दु:ख-सुख में समीप दिखाई पड़ते हैं। लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी किसी सीमा को स्वीकार नहीं करतीं। अंचलों की बात तो जाने दीजिए ये कथाएँ देशों और महाद्वीपों की सीमाएँ भी पार कर गई हैं। इन कथाओं की विशेषता यह भी है कि ये मानव जीवन के सभी पहलुओं से संपर्क रखती हैं। इधर लोककथाओं के जो संग्रह हुए हैं उनमें तो बहुत ही थोड़ी कथाएँ आ पाई हैं। भले ही हम उनके संरक्षण की बात करें परंतु अपनी विशेषताओं के कारण ही श्रुति एवं स्मृति के आधार पर जीवन प्राप्त करनेवाली ये कथाएँ युगों से चली आ रही हैं। ये कथाएँ मुख्य रूप से तीन शैलियों में कही जाती हैं। प्रथम गद्य शैलीय-इस प्रकार में पूरी कथा सरल एवं आंचलिक बोली में गद्य में कही जाती है। द्वितीय गद्य पद्य मय कथाएँ - इन्हें चंपू शैली की कथा कहा जा सकता है। ऐसी कथाओं में प्राय: मार्मिक स्थलों पर पद्य रचना मिलती हैं। तीसरे प्रकार की कथाओं में पद्य गद्य के स्थान पर एक प्रवाह सा होता है। यह प्रवाह श्रोताओं पर अच्छा असर डालता है, किंतु इसमें द्वितीय प्रकार की कथाओं के पद्यों की भाँति गेयता नहीं होती, जैसे–

जात रहे डाँड़े डाँड़े,
एक ठे पावा कौड़ी
ऊ कौड़ी गंगा के दिहा
गंगा वेचारी बालू दिहिनि
ऊ बालू मइँ भुँजवा के दिहा
भुँजवा बेचारा दाना दिहेसि - इत्यादि

कहानी कहनेवाला व्यक्ति कथा के प्रमुख पात्र (नायक) को पहले वाक्य में ही प्रस्तुत कर देता है, जैसे - 'एक रहे राजा' या 'एक रहा दानव' आदि। इस विशेषता के कारण लोककथाओं का श्रोता विशेष उलझन में नहीं पड़ता। लोकजीवन में कथा कहने के साथ ही उसे सुनने की शैली भी निर्धारित कर दी गई है। सुननेवालों में से कोई व्यक्ति, जब तक हुंकारी नहीं भरता तब तक कथा कहने वाले को आनंद ही नहीं आता। हुंकारी सुनने से कहनेवाला अँधेरे में भी समझता रहता है कि श्रोता कहानी को ध्यानपूर्वक सुन रहा है।

लोककथाओं के भेद

लेककथाओं को मुख्य रूप से निम्नलिखित विभागों में बाँटा जा सकता है-

उपदेशात्मक कथाएँ

हिंदी की अनेक छोटी-बड़ी कथाओं में मानव कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के उपदेश भरे पड़े हैं। ऐसी कथाएँ प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देती हैं। इसलिए ऐसा आभास नहीं होता कि उनका निर्माण उपदेश के लिए ही किया गया होगा। इनके माध्यम से गृहकलह एवं सामाजिक बुराइयों से बचने के लिए प्रेरणाएँ मिलती हैं। ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जिनमें कर्कशा नारियों के कारण परिवार को विभिन्न प्रकार के कष्टों का भाजन होना पड़ा है। इनमें विमाताओं तथा सौतों की कथाएँ प्रधान होती हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी भी कथाएँ मिलती हैं जिनमें मायावी स्त्रियाँ पर पुरुषों पर डोरे डालती हैं या जादू-टोना किया करती हैं जिससे कथा के नायक को तथा उससे संबंध रखनेवालों को विभिन्न संघर्षों का शिकार होना पड़ता है। पुत्र द्वारा पिता की आज्ञा न मानने पर कष्ट उठाने से संबद्ध भी अनेक कथाएँ हैं किंतु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये सभी कथाएँ अंत में सुख एवं संयोग में समाप्त होती हैं। जब तक कथा समाप्त नहीं होती तब तक पात्रों और मुख्य रूप से नायकों को इतनी भयानक घटनाओं में फँसा देखा जाता है कि सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कुछ श्रोता तो वहीं कथा कहनेवाले तथा अन्य श्रोताओं की परवाह किए बिना नायक को कष्ट देनेवाले के नाते अपशब्द भी कहने लगते हैं। उन्हें ये सारी घटनाएँ सही मालूम पड़ती हैं।

सामाजिक कहानियाँ

इनमें विभिन्न प्रकार की बुराइयों से उत्पन्न घटनाओं का समावेश होता है। इनमें विशेष कर गृहकलह (सास-बहू एवं ननद भावज के झगड़े) एवं दुश्चरित्र और लंपट साधु संतं की करनी तथा अयोग्य नरेश के कारण प्रजा का दुखी होना दिखाया जाता है। बाल विवाह, बेमेल विवाह, बहु विवाह, विजातीय विवाह तथा दहेज आदि की निंदा भी इन कथाओं में मिलती हैं। योग्य या निरपराध व्यक्ति अयोग्य दुष्ट व्यक्ति के चंगुल में फँसकर परेशान होते दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक

कहानियों में वे कथाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं जिनमें नायिका मुख्य रूप से और नायक गौण रूप से भयानक परीक्षाएँ देते हैं। ऐसी परीक्षाओं में प्रायः सामाजिक एवं व्यक्तिगत चरित्र को प्रधानता दी जाती है। जिन नायक-नायिकाओं के चरित्र ठीक होते हैं वे ऐसी कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते दिखाई पड़ते हैं। जैसे सच्चरित्र नारी जब तप्त तैल के कड़ाहे में हाथ डालकर अपने सतीत्व की परीक्षा देती है तो कड़ाहे का तप्त तेल शीतल होता है। पतिव्रता स्त्री सूर्य के रथ को भी रोक देती है। उसके भय से बड़े-बड़े दैत्य-दानव तथा डाइनें भूतप्रेत पास नहीं फटकते। इसी तरह चरित्रवान् नायक भी विकट परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं।

धार्मिक लोककथाएँ

इनमें जप-तप, व्रत-उपवास एवं उनसे प्राप्त उपलब्धियाँ संजोई गई हैं। सुखों की कामना के लिए कही गई इन व्रत कथाओं से उपदेश ग्रहण कर संबद्ध पर्वों के अवसरों पर स्त्रियाँ व्रतों का पालन किया करती हैं। पति, पुत्र एव भाइयों की कुशलता तथा संपत्ति प्राप्ति इनका लक्ष्य होता है। ऐसी लोक कथाओं में 'बहुरा' (बहुला), जिउतिया (जीवितपुत्रिका), करवा चौथ, अहाई, गनगौर और पिड़िया की कथाएँ मुख्य स्थान रखती हैं। पिड़िया का व्रत कुमारी बालिकाओं द्वारा भाइयों की कुशलता के लिए किया जाता है। यह व्रत कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से अगहन शुक्ल प्रतिपदा तक चलता है। इसे गोधन व्रत कथा की संज्ञा भी दी जाती है। जीवितपुत्रिका (जिउतिया) व्रत पुत्र की प्राप्ति तथा उसे दीर्घ जीवन के लिए किया जाता है। इस अवसर पर भी कई लोककथाएँ कही जाती हैं। किंतु चील्ह तथा स्यारिन दोनों ने ही इस पर्व पर किसी समय व्रत किया था परंतु भूख की ज्वाला न सह सकने के कारण स्यारिन ने चुपके से खाद्य ग्रहण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि उसके सभी बच्चे मर गए और व्रत निभानेवाली चील्ह के सभी बच्चे दीर्घ जीवन को प्राप्त हुए। इस पर्व के व्रत विश्वास से जब पुत्र की प्राप्ति होती है तो लोककथाओं में दिए गए संकेत के अनुसार उसका नाम 'जीउत' रखा जाता है। ऐसा लगता है कि पुराणों में जीवतपुत्रिका व्रत की कथा के साथ जो जीमूत वाहन की कथा संबद्ध है वह लोककथाओं के आधार पर ही है, क्योंकि पौराणिक जीमूत वाहन ने नागों की रक्षा के लिए अपनी देह का त्याग किया था। जिउतिया की कथा का भी उद्देश्य परोपकार के लिए

आत्मोत्सर्ग कर देना ही है। करवा चौथ के व्रत में मुख्य रूप से उस राजा और रानी की कहानी कही जाती हैं, जो दूसरों के बालकों से घृणा किया करते थे। इसीलिए उन्हें पुत्र नहीं हुआ। अंत में सूर्य की उपासना करने पर उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई।

प्रेम प्रधान लोककथाएँ

प्रेम प्रधान लोककथाएँ भी खूब मिलती हैं। इनमें मुख्य रूप में माता का पुत्र के प्रति, पुत्र का माता के प्रति, पत्नी का पति के और पति का पत्नी के प्रति तथा भाइयों बहनों का प्रेम दिखलाया जाता है। प्राय: सभी कथाओं में वर्णित प्रेम कर्तव्य एवं निष्ठा पर आधारित होता है। कुछ कथाएँ तो ऐसी भी हैं जिनमें जन्म जन्मान्तर का प्रेम पल्लवित होता है। सदावृज-सारंगा की कथा पूर्व जन्मों के प्रेम पर ही आधारित हैं। शीत वसंत की कहानी में जहाँ विमाता के दुर्व्यवहार की बात आती है वहीं भाई-भाई का प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँचता दिखाई पड़ता है। भाई-बहन और पति-पत्नी के प्रेम पर आधारित तो अनेक कथाएँ हैं। कई कथाओं में कुलीन एवं पतिपरायण स्त्रियाँ कुपात्र तथा घृणित रोगों से ग्रस्त पतियों को अपनी सेवा, श्रद्धा और भक्ति के बल पर बचा लेती हैं।

मनोरंजन संबंधी कथाएँ

इनका मूल उद्देश्य श्रोताओं के दिल बहलाव की सामग्री प्रस्तुत करना होता है। बालक-बालिकाएँ ऐसी कहानियों को अति शीघ्र याद कर लेती हैं। ये कथाएँ प्राय: छोटी हुआ करती हैं। भिन्न-भिन्न जानवरों जैसे कुत्ता, बिल्ली, गीदड़, नेवला, शेर, भालू, सुग्गा, कौवा, चील्ह आदि से संबंध रखनेवाली ये कहानियाँ बालकों का मनोरंजन करती हैं। इनमें वर्णित विषय गंभीर भी होते हैं किंतु प्राथमिकता हल्की-फुल्की बातों को दी जाती हैं। उदाहरण के लिए ढेले पर पात की एक लघु कथा लें - ढेले पत्ते में मित्रता हुई। ढेले ने पत्ते से कहा, आँधी आने पर मैं तुम्हारे ऊपर बैठ जाऊँगा तो तुम उड़ोगे नहीं। पत्ते ने कहा पानी आने पर मैं तुम्हारे ऊपर हो जाऊँगा तो तुम गलोगे नहीं। संयोग की बात कि आँधी पानी का आगमन एक साथ ही हुआ। पत्ता भाई उड़ गए और ढेला भाई गल गए। विभिन्न प्रकार की हास्य कथाएँ भी इसी प्रकार के अंतर्गत आती हैं।

जातीय पात्रों पर आधारित लोककथाएँ

अंत में ऐसी लोककथाओं की चर्चा भी अपेक्षित है, जो जातीय पात्रों पर आधारित होती हैं। ऐसी कथाएँ अहीरों, धोबियों, नाइयों, मल्लाहों, चमारों तथा कुछ अन्य जातियों में हुए विशिष्ट नायकों पर आधारित होती हैं। इन कथाओं को संबंधित जातियाँ ही आपस में कहती सुनती हैं। वन्य जातियों, जैसे कोलों, भीलों, धीमरों, खरबारों, किरातों तथा दुसाधों आदि में ऐसी कथाएँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं।

6

लोकनाट्य

लोकनाट्यों का लोकजीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि लोक से संबंधित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिनय किया जाता है। विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में यह प्रथा है कि स्त्रियाँ बारात विदा हो जाने पर किसी 'स्वाँग' या 'साँग' का अभिनय प्रस्तुत करती हैं जिसे 'भोजपुरी' प्रदेश में 'डोमकछ' कहते हैं।

लोकनाट्यों की भाषा बड़ी सरल तथा सीधी-सादी होती हैं जिसे कोई भी अनपढ़ व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ सकता है। जिस प्रदेश में लोकनाट्यों का अभिनय किया जाता है, नट लोग वहाँ की स्थानीय बोली का ही प्रयोग करते हैं। ये लोग अभिनय के समय गद्य का ही प्रयोग करते हैं। परंतु बीच-बीच में गीत भी गाते जाते हैं। लोकनाट्यों के संवाद बहुत छोटे तथा सरस होते हैं। लंबे कथोपकथनों का इनमें नितांत अभाव होता है। लंबे संवादों को सुनने के लिए ग्रामीण दर्शकों में धैर्य नहीं होता। अत: नाटकीय पात्र संक्षिप्त संवादों का ही प्रयोग करते हैं।

लोकनाट्यों का कथानक प्राय: ऐतिहासिक, पौराणिक या सामाजिक होता है। धार्मिक कथावस्तु को लेकर भी अनेक नाटक खेले जाते हैं। बंगाल के लोकनाट्य 'जात्रा' और 'कीर्तन' का आधार धार्मिक आख्यान होता है। राजस्थान में अमरसिंह राठौर की ऐतिहासिक गाथा का अभिनय किया जाता है। केरल प्रदेश में प्रचलित 'यक्षगान' नामक लोकनाट्य का कथानक प्राय: पौराणिक होता है।

उत्तरप्रदेश की रामलीला और रासलीला की पृष्ठभूमि धार्मिक है। नौटंकी और स्वाँग की कथावस्तु समाज से अधिक संबंध रखती है।

लोकनाट्यों में प्राय: पुरुष ही स्त्री पात्रों का कार्य किया करते हैं परंतु व्यवसायी नाटक मंडलियाँ साधारण जनता को आकृष्ट करने के लिए सुंदर लड़कियों का भी इस कार्य के लिए उपयोग करती हैं। लोकनाट्यों के पात्र अपनी वेश-भूषा की अपेक्षा अपने अभिनय द्वारा ही लोगों को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इन नाटकों के अभिनय में किसी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार या बहुमूल्य वस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, खड़िया आदि देशी प्रसाधनों से मुख को प्रसाधित कर तथा उपयुक्त वेश-भूषा धारण कर पात्र रंगमंच पर आते हैं। कुछ पात्र प्रसाधन के लिए अब पाउडर और क्रीम का भी प्रयोग करने लगे हैं।

लोकनाट्य खुले हुए रंगमंच पर खेले जाते हैं। दर्शकगण मैदान में आकाश के नीचे बैठकर नाटक का अभिनय देखते हैं। किसी मंदिर के सामने का ऊँचा चबूतरा या ऊँचा टीला ही रंगमंच के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कहीं-कहीं काठ के ऊँचे तख्तों को बिछाकर मंच तैयार किया जाता है। इन रंगमंचों पर परदे नहीं होते। अत: किसी दृश्य की समाप्ति पर कोई परदा नहीं गिरता। नाटक के पात्रगण किस पेड़ या दीवाल की आड़ में बैठकर अपना प्रसाधन किया करते हैं, जो उनके लिए 'ग्रीनरूप' का काम करता है।

भारतीय लोकनाट्य

भारत में नाट्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत मुनि ने (ई.पू. तृतीय शताब्दी) अपने नाट्यशास्त्र में इस विषय का विशद वर्णन किया है। इसे अतिरिक्त धनंजयकृत 'दशरूपक' में तथा विश्वनाथ कविराजविरचित 'साहित्यदर्पण' में भी एतत्संबंधी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है, परंतु नाट्यशास्त्र ही नाट्यविद्या का सबसे मौलिक तथा स्रोतग्रंथ माना जाता है।

इतिहास एवं उद्भव

नाट्यशास्त्र में वर्णित एक कथा से पता चलता है, देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने समस्त मानवों के मनोरंजनार्थ नाट्य की रचना की। शूद्रों के लिए वेदों के पठन-पाठन का अधिकार निषिद्ध था अत: पंचम वेद (नाट्य) की रचना अत्यंत आवश्यक प्रतीत हुई। इस प्रकार सभी वर्णों के मनोरंजन के लिए

ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' की सृष्टि की–

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्, रसमाथर्वणादपि॥

वास्तव में नाटकों की 'अपील' सार्वजनीन होती है। इसीलिए कालिदास ने ठीक ही लिखा है कि नाटक विभिन्न प्रकार की रुचि रखनेवाले मनुष्यों के मनोरंजन का अद्वितीय साधन है–

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य,
बहुधाप्येकं समाराधनम्।

इस देश में मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठा के पश्चात् राजनीतिक एकसूत्रता नष्ट हो गई। मुसलमानी शासकों की प्रवृत्ति नाट्यकला की ओर उदासीन थी। फलतः उनके शासन में नाटक रचना तथा उसके अभिनय का ह्रास होने लगा। राजाश्रय के अभाव में इसका पतन स्वाभाविक ही था। संस्कृत साहित्य की नाट्य परंपरा, जो हजारों वर्षों से अबाध गति से चली आ रही थी, सदा के लिए नष्ट हो गई।

उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक गोस्वामी वल्लभाचार्य जी थे। इन्होंने कृष्णभक्ति का प्रचुर प्रचार किया। इनके अनुयायियों ने भागवत के दशम स्कंध की कथा को जिसमें भगवान श्रीकृष्ण के जीवनचरित् का वर्णन किया गया है, अभिनय के माध्यम से जनता के सामने सजीव रूप प्रदान किया। श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का अभिनय मंदिरों, मठों तथा अन्य स्थानों में होने लगा, जिसको देखने के लिए श्रद्धालु जनता की भीड़ हजारों की संख्या में जुटने लगी। भगवान कृष्ण की इसी प्रारंभिक लीला ने आगे चलकर 'रास लीला' का रूप धारण किया जो आज भी मथुरा तथा वृंदावन में बड़े प्रेम से की जाती है (दे. रामलीला)।

भारत के उत्तरी भाग में रामभक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानंद जी को प्राप्त है। परंतु रामभक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा इनके शिष्य गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा ही हुई। साधारण जनता में कृष्णभक्ति के प्रचार का जो श्रेय महात्मा सूरदास को प्राप्त है, रामभक्ति के प्रचार का उससे कहीं अधिक श्रेय गोस्वामी जी को उपलब्ध है।

उत्तरी भारत में रामलीला का प्रचार गोस्वामी तुलसीदास जी की देन है। गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम काशी में रामलीला करानी प्रारंभ की थी। इस प्रकार

भक्ति आंदोलन के प्रभाव से उत्तरप्रदेश में दो लोकधर्मी नाट्यपरंपराओं का जन्म हुआ - (1) रासलीला और (2) रामलीला।

इसी समय बंगाल में चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ जिन्होंने इस प्रांत में कृष्णभक्ति का प्रचुर प्रचार किया। श्री चैतन्य भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति का गान करते समय आत्मविभोर हो जाते थे। वे भगवान की आराधना करते समय कीर्तन भी किया करते थे। उन्होंने अनेक तीर्थ स्थानों की यात्रा की थी जिसमें इनके अनुयायी भी सम्मिलित होते थे। धीरे-धीरे इन यात्राओं तथा कीर्तनों ने लाकनाट्य का रूप धारण कर लिया, जिसमें श्रीकृष्ण की लीलाएँ अभिनय के माध्यम से दिखलाई जाने लगीं। आज बंगाल में यात्रा या जात्रा तथा कीर्तन का प्रचुर प्रचार है। इस प्रकार उत्तरी भारत में अनेक लोकनाट्यों का विकास हुआ जिनकी पृष्ठभूमि धार्मिक थी।

कुछ प्रसिद्ध लोकनाट्य

भारत के विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकनाट्य प्रचलित हैं। उत्तर भारत में प्रचलित रामलीला और रासलीला की चर्चा पहले की जा चुकी है। मध्यप्रदेश, विशेषतया मालवा प्रांत, में 'माँच' नामक लोकनाट्य प्रसिद्ध है। 'माँच' शब्द मंच का अपभ्रंश रूप है। राजस्थान में 'माँच' 'ख्याल' के रूप से प्रचलित है। इसका प्रारंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है। मालवा में माँचों की परंपरा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में नौटंकी का बड़ा प्रचार है। हाथरस की नौटंकी बड़ी प्रसिद्ध है। इसे 'स्वाँग' या 'भगत' भी कहते हैं। आगरा में 'भगत' नामक लोकनाट्य का प्रचुर प्रचार है। ब्रजमंडल में खुले हुए रंगमंच पर नौटंकी के ढंग पर 'भगत' का अभिनय किया जाता है। इस प्रदेश के पूर्वी जिलों में 'बिदेसिया' नाटक बड़ा ही लोकप्रिय है जिसे देखने के लिए हजारों की भीड़ एकत्र हुआ करती है।

यात्रा (जात्रा)

बंगाल की 'यात्रा' धार्मिक लोकनाट्य है। 'गंभीरा' लोकनाट्य का दूसरा रूप है, जो इस राज्य में प्रचलित है। यह नाटक शैव मतावलंबियों से संबंधित है। महाराष्ट्र में तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया और दशावतार आदि लोकनाट्य मराठी रंगमंच के आधार हैं। तमाशा महाराष्ट्र का प्राचीन लोकनाट्य है। तमाशा करनेवाली मंडली 'फड़' कहलाती है। 'ललित' मध्ययुगीन धार्मिक

नाट्य है। यह नवरात्र संबंधी विशिष्ट कीर्तन है, जिसमें भक्तों का 'स्वाँग' आदि दिखलाया जाता है। गोंधल धर्ममूलक लोकनाट्य है। महाराष्ट्र में इसका आनुष्ठानिक महत्व है। विवाह आदि उत्सवों में गोंधल के अभिनय की व्यवस्था की जाती है।

यक्षगान

'यक्षगान' दक्षिण भारतीय लोकनाट्य का वह प्रकार है, जो तमिल, तेलुगू तथा कन्नड़ भाषा भाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है। तेलुगू में इसे 'विथि' या 'विथि भागवतम्' कहते हैं। यक्षगान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। यह नृत्य नाट्य (डांस ड्रामा) है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। इसमें वर्णन का प्राधान्य होता है। इसकी कथावस्तु रामायण, महाभारत और भागवत से ली जाती है।

विथि नाटकम

'विथि नाटकम्' या 'विथि भागवतम्' तेलुगू का लोकनाट्य है। 'विथि नाटकम्' का शाब्दिक अर्थ है वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित किया जा सके। इस नाटक में एक या दो ही पात्र रंगमंच पर आते हैं। स्त्रियाँ सामूहिक रूप से नृत्य करती हैं। नृत्य और अभिनय के द्वारा कृष्णलीला को 'विथि नाटकम्' का विषय बनाया गया है। इस प्रकार भारत के विभिन्न राज्यों में लोकनाट्य प्रचलित हैं, जो बड़े ही लोकप्रिय हैं।

7

लोक-संस्कृति

किसी देश की लोक-संस्कृति का महत्त्व उस देश के जीवन में निर्विवाद है। उसका अपना स्वतंत्र प्रवाह होता है, जो निरंतर प्रभावित हुआ करता है और जो बड़ी कठिनता और युगों के प्रयत्न से किंचित् परिवर्तित किया जा सकता है। उसमें स्थायित्व का तत्त्व अधिक होता है और परिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति बहुत कम। लोक-संस्कृति लोक अर्थात् जनसामान्य की संपत्ति होती है। समाज का अधिक शिक्षित वर्ग अपनी ऊँची संस्कृति के नशे में शीघ्रता से आगे बढ़ता जाता है और वह परिवर्तन के चक्कर में भी अधिक रहता है।

संस्कृति के क्षेत्र में भी उसे प्रयोग करना अच्छा लगता है, जिसका अवश्यंभावी परिणाम संस्कृति का शीघ्रता से रूप-परिवर्तन होता है, पर लोक-संस्कृति का प्रभाव मंद होता है, साथ ही निरंतरता को स्थायित्व देनेवाला भी। महाकवि से आरंभ करके हमारे साहित्य में, जो संस्कृति का एक प्रमुख विधायक अंग है, अब तक जाने कितने प्रयोग हो चुके हैं ।

यह उच्च वर्ग की संस्कृति का उदाहरण हुआ, पर लोक-संस्कृति का विधायक अंग, ग्रामगीत न्यूनाधिक अब भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। उसकी विषय-वस्तु में कम-से-कम परिवर्तन दिखाई देता है। उसकी भाव- भूमि अब भी वहीं है, जो शताब्दियों पहले थी। लोक-संस्कृति पर सभ्यता का आवरण नहीं चढ़ा होता ।

'नागरिक' संस्कृति पहले अपने छद्म वेश के कारण अधिक आकर्षक हो सकती है, जैसे-वस्त्रभूषण, अलक्तक राग और लिपस्टिक से अलंकृत आधुनिक नारी पर इससे वास्तविक सौंदर्यान्वेषी और रूप-पारखी के लिए मैली धोती में लिपटी रूप और यौवन के उमंग से भोली-भाली ग्रामबाला-सरीखी लोक-संस्कृति का आकर्षण कम नहीं हो जाता ।

उसका सहज, सरल और अकृत्रिम रूप-माधुर्य अपने सम्मोहनकारी प्रभाव से सहृदयी को रससिक्त बनाए बिना नहीं रहता। सभ्यता और संस्कृति का भेद स्पष्ट है। संस्कृति किसी देश और जाति की आध्यात्मिक, धार्मिक, साहित्यिक और बौद्धिक साधना का फल होती है। उसका वास्तविक संबंध जीवन की आंतरिक आवश्यकताओं से है, सभ्यता बाह्य प्रयतनों का फल है और बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति में ही उसकी सफलता है।

आज पश्चिम के देश अपनी सभ्यता पर गर्व करते हैं। यह उचित ही है, क्योंकि अपने बाह्य प्रयत्नों के फलस्वरूप उन्होंने भौतिक सुख-सुविधा और विलास की सभी सामग्री एकत्र कर ली हैं, लेकिन यह कहना गलत होगा कि पश्चिम के देश संस्कृति के क्षेत्र में भी आगे बड़े ।

सच तो यह है कि आज का सभ्यताभिमानी पश्चिमी जागर, अपनी सांस्कृतिक प्रेरणाओं के लिए या तो पुरातन यूनान और रोम का मुखापेक्षी होता है या प्राचीन भारतीय संस्कृति का गुण गानकर अपनी आध्यात्मिक भूख मिटाता है।

सभ्यता और संस्कृति के अंतर की भाति 'नागरिक संस्कृति' और 'लोक-संस्कृति' का अंतर भी समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। हर समाज में दो तरह के लोग होते हैं-शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग। शिक्षित वर्ग के हाथ में अधिकार होता है, वह समाज का नेतृत्व करता है, जैसे-राजनीति का सूत्र उसके हाथ में रहता है, वैसे ही कला और साहित्य के सृजन में भी वह आगे रहता है।

भाषा, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि का मानदंड उसी के हाथों निर्धारित होता है। इतिहास उसी की कृतियों के आधार पर तत्कालीन समाज का मूल्यांकन करता है। आदिकाल से ऐसा होता आया है और आज में यही हो रहा है तथा भविष्य में भी ऐसा ही होगा। शिक्षित वर्ग की तुलना में समाज का अशिक्षित वर्ग मूक अथवा कम मुखर होता है। सचमुच, वह शासित वर्ग द्वारा शोषित वर्ग होता है। उससे आशा की जाती है कि वह शिक्षित और सभ्य-वर्ग का अनुसरण करे ।

इसमें संदेह नहीं कि अशिक्षित वर्ग को बहुत अंशों में ऐसा करना पड़ता है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वह अपनी सत्ता शत-प्रतिशत खो भी नहीं देता। उसकी अपनी स्वतंत्र दुनिया भी होती है। साहित्यिक भाषा को न समझ सकने के कारण वह अपनी बोली में लोकगीत रचता है और उन्हीं को गाकर अपने मन को संतुष्ट करता है। शिष्ट नृत्य की मुद्राओं और भावभंगिमाओं का आनंद वह नहीं ले पाता तो लोकनृत्य की नई अनगढ़ शैली को विकसित करता है।

शास्त्रीय संगीत का राग-रागिनियों के सूक्ष्म भेदों का आनंद-स्पर्श उसे नहीं प्राप्त होता, तब वह बिरहा, चैता, फगुआ, चैताल जैसे मुक्त सुरों का आविष्कार कर डालता है। इस प्रकार शिक्षित वर्ग से भिन्न संस्कृति का विकास अशिक्षित वर्ग द्वारा होता है। उसे ही हम 'लोक-संस्कृति' कहते हैं। संख्या की दृष्टि से देखें तो लोक-संस्कृति का यह नाम बड़ा ही समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि लोक अथवा समाज का जितना प्रतिनिधित्व यह करती है उतना 'नागरिक संस्कृति' नहीं ।

यह बात अवश्य है कि लोक-संस्कृति का क्षेत्र कम व्यापक और सीमित होता है। किसी देश की नागरिक संस्कृति केवल एक होती है जबकि देश के विभिन्न भागों की लोक-संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। वैदिक काल से लेकर अब तक पूरा संस्कृत वाङ्मय और मध्यकालीन तथा आधुनिक शिष्ट साहित्य, दार्शनिक चिंतन, आध्यात्मिक तथा धार्मिक साधना, ललित कलाओं के क्षेत्र की विविध उपलब्धियों समष्टि रूप में भारतीय संस्कृति के नाम से अभिहित होती हैं पर लोक-संस्कृति के नाम पर हर प्रादेशिक क्षेत्र की अपनी विशेषताएँ हैं। उनके गीत उनकी लोककथाएँ उनकी नृत्य-शैली, सबमें भिन्नता मिलेगी। जब से हमारा देश स्वतंत्र हुआ है तब से हमारे जातीय जीवन के उपेक्षित अंग फिर से मान्यता प्राप्त करने लगे हैं। उनके पुनरुद्धार, विस्तार और संरक्षण के प्रयत्न राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे हैं। इन चिर-उपेक्षित अंगों में 'लोक-संस्कृति' भी एक है।

आजकल, लोक-संस्कृति का प्रदर्शन लज्जा की बात नहीं समझी जाती, पर कुछ ही समय पहले यह असभ्यता, पिछड़ापन, गँवारपन और यहाँ तक कि फूहड़पन का विषय मानी जाती थी। तब अधिक 'उन्नत' और अधिक 'सभ्य' समाज में 'पॉप म्यूजिक' का प्रचलन था, यूरोपीय संगीत का सम्मान था और यदि बहुत नीचे उतरें तो कथकली या मणिपुरी नृत्य देख लिया और यदि भारतीय संगीत सुनना ही है तो शास्त्रीय संगीत सुन लिया ।

आज स्थिति बदल गई है। स्थिति यह है कि कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम 'लोक-संस्कृति' के अभाव में सफल नहीं समझा जाता। हमारे सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय पर्व 'गणतंत्र दिवस' के समारोह का मुख्य आकर्षण उसमें प्रदर्शित लोक-संस्कृतियों की अनुपम झांकियाँ ही होती हैं, जिन्हें देखने के लिए विदेशों के सत्ताधारी भी खिंचकर चले आते हैं।

सभ्य समाज से दूर जंगलों में वास करनेवाली आदिम जातियों की 'संस्कृति' को भी अब स्वीकार किया जाने लगा है। क्यों न हो ? उनकी भी युगों-युगों की साधनाएँ और उपलब्धियाँ हैं- उनकी भी विशेषताएँ हैं और जो 'भारत-भारती' के भंडार के अभिन्न अंग के रूप में पहचानी जाने लगी हैं ।

इधर, कुछ समय से लोक-संस्कृति की चर्चा अधिक होने लगी है। इस विषय पर आए दिन पुस्तकें देखने को मिलती हैं और कई स्थानों में लोक-संस्कृति शोध संस्थान भी स्थापित हो गए हैं। एक अर्थ में ऐसी जागृति शुभ है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप हमारे ग्रामीण शिक्षित समाज की कलाकृतियाँ प्रकाश में आएँगी और उसके माध्यम से हम उस समाज का वास्तविक जीवन देख सकेंगे ।

हाँ, इसमें एक खतरा भी है। लोक-संस्कृति पर अधिक बल देने से प्रादेशिकता या स्थानीयता की भावना को प्रश्रय मिल सकता है, जो भावात्मक एकीकरण के कार्य में लगे हुए देश के लिए घातक होगा। इसलिए देश का कल्याण इसी में है कि लोक-संस्कृति का मान करते हुए उसके संरक्षण का प्रयत्न करते हुए भी हम उसके महत्त्व को अतिरंजित न होने दें ।

संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है। वह व्यापक, अनेक तत्त्वों का बोध कराने वाली, जीवन की विविध प्रवृत्तियों से संबन्धित है, अतः विविध अर्थों व भावों में उसका प्रयोग होता है। मानव मन की बाह्य प्रवृत्ति-मूलक प्रेरणाओं से जो कुछ विकास हुआ है उसे सभ्यता कहेंगे और उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों से जो कुछ बना है, उसे संस्कृति कहेंगे।

लोक का अभिप्राय सर्वसाधारण जनता से है, जिसकी व्यक्तिगत पहचान न होकर सामूहिक पहचान है। दीन-हीन, शोषित, दलित, जंगली जातियाँ, कोल, भील, गोंड (जनजाति), संथाल, नाग, किरात, हूण, शक, यवन, खस, पुक्कस आदि समस्त लोक समुदाय का मिला-जुला रूप लोक कहलाता है। इन सबकी मिली-जुली संस्कृति, लोक संस्कृति कहलाती है। देखने में इन सबका अलग-अलग रहन-सहन है, वेश-भूषा, खान-पान, पहनावा-ओढ़ावा, चाल-व्यवहार,

नृत्य, गीत, कला-कौशल, भाषा आदि सब अलग-अलग दिखाई देते हैं, परन्तु एक ऐसा सूत्र है जिसमें ये सब एक माला में पिरोई हुई मणियों की भाँति दिखाई देते हैं, यही लोक संस्कृति है। लोक संस्कृति कभी भी शिष्ट समाज की आश्रित नहीं रही है, उलटे शिष्ट समाज लोक संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है।

लोक संस्कृति का एक रूप हमें भावाभिव्यक्तियों की शैली में भी मिलता है, जिसके द्वारा लोक-मानस की मांगलिक भावना से ओत-प्रोत होना सिद्ध होता है। वह श्दीपक के बुझनेश की कल्पना से सिहर उठता है। इसलिए वह 'दीपक बुझाने' की बात नहीं करता 'दीपक बढ़ाने' को कहता है। इसी प्रकार 'दुकान बन्द होने' की कल्पना से सहम जाता है। इसलिए 'दुकान बढ़ाने' को कहता है। लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोक गीतों व लोक कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती गुनगुनाती है। लोक जीवन में पग-पग पर लोक संस्कृति के दर्शन होते हैं। लोक-साहित्य उतना ही पुराना है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।

लोक संस्कृति की आत्मा

लोक संस्कृति के संरक्षक, प्रतिष्ठापक ये ग्रामीण, परमहंस अथवा अबोध बालक की भाँति स्वयं अपने को कुछ भी नहीं समझा करते। इनके मर्म और वास्तविक स्वरूप को अध्ययन-मननशील विद्वान ही समझते हैं। भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा भारतीय साधारण जनता है, जो नगरों से दूर गाँवों, वन-प्रांतों में निवास करती है।

लोक संस्कृति के विविध आयाम

भारतीय लोक संस्कृति श्रमशील समाज की संवेदनात्मक आवेगों की अभिव्यक्ति रही है। धरती के हर हिस्से के मूल निवसियों ने अपनी लोक संस्कृति की रक्षा की है। लोक संस्कृति प्रकृति की गोद में पनपती है। लोक संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की पुस्तकें न पढ़कर अन्दर की पुस्तकें पढ़ते हैं। लोक संस्कृति की शिक्षा प्रणाली में श्रद्धा-भक्ति की प्राथमिकता रहती है। उसमें अविश्वास, तर्क का कोई स्थान नहीं रहता। लोक संस्कृति में श्रद्धा भावना की परम्परा शाश्वत है, वह अन्तः सलिला सरस्वती की भाँति जनजीवन

में सतत प्रवाहित हुआ करती है। लोक संस्कृति एवं लोकोत्तर संस्कृति तथा विश्व की सभी संस्कृतियों का बीज एक ही है। यह बीज लोक संस्कृति ही है। लोक संस्कृति बहुत व्यापक है, वहाँ वह सब कुछ है, जो लोक में है, लोक संस्कृति लोक से छन-छन कर आती है, लोक से हटकर जब हम उसकी व्याख्या करने लगते हैं तो उसकी तमाम बातें अश्लील लग सकती हैं, जैसे गालियाँ, परन्तु ये गालियाँ लोक में प्रचलित हैं और दैनिक जीवन में इनका भरपूर प्रयोग भी देखा जा सकता है पर जब इनकी आप व्याख्या करने बैठ जायें तो शर्म आने लगती है। कोई गाँव, कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ गालियाँ नहीं प्रयुक्त होती। लोक जीवन में इनका भी महत्व है, मन की ग्रंथि खुल कर साफ हो जाती है। लोक को समझना इतना आसान भी नहीं है, लोक परम्परा और लोक संस्कृति में भी बड़ा अन्तर है, परम्पराओं में से अच्छी-अच्छी बातें निकल-निकल कर कालांतर में लोक संस्कृति बनती रहती है, लोक संस्कृति अन्तस में रची बसी होती है। गालियाँ और अपशब्द लोक संस्कृति के अन्तर्गत नहीं लोक परम्परा में आते हैं।. .... लोक संस्कृति नष्ट नहीं होती परम्पराएँ बनती बिगड़ती रहती हैं।.... लोक संस्कृति में कुछ भी अश्लील नहीं है, लेकिन लोक परम्परा में, लोक जीवन में अश्लीलता देखी जा सकती है। लोक में जो कुछ है वह सब का सब लोक संस्कृति नहीं है। टोना और टोटका लोक जीवन के अंग हैं। लोक जीवन में इनका प्रयोग खूब होता है।

किसी क्षेत्र विशेष में निवास करने वाले लोगों के पारस्परिक धर्म त्योहार, पर्व , रीति, रिवाज, मान्यताओं , कला आदि को लोक संस्कृति का नाम दिया जाता है। लोक संस्कृति किसी क्षेत्र विशेष को अन्य क्षेत्रों से स्वतन्त्र पहचान प्रदान करती है। वर्तमान में यदि हम हरियाणा, राजस्थान, केरल, तमिलनाडु, उड़ीसा इत्यादि प्रान्तों का स्मरण करते हैं तो उनकी लोक संस्कृति के आधार पर।

प्रस्तुत अध्ययन रुहेलखण्ड क्षेत्र की लोक संस्कृति के लिए उद्दिष्ट है तथा इसमें रुहेलखण्ड की समग्र संस्कृति, इतिहास पुरातत्त्व आदि को समावेश किया गया है।

रुहेलखण्ड के पर्व - त्योहार, मेले

भारत में व्रत - त्योहार, एवं मेलों का बहुत महत्व है। जितने पर्व त्योहार एवं उत्सव भारत में मनाये जाते हैं, उतने विश्व के किसी अन्य देश में नहीं होते हैं।

रुहेलखण्ड क्षेत्र में भी लगभग वह सभी पर्व त्योहार मनाये जाते हैं, जो देश के अन्य भू - भाग में मनाये जाते हैं। हिन्दी मास के क्रमानुसार इस क्षेत्र में मनाये जाने वाले जानेवाले पर्व, उत्सव,मेलों का क्रमबद्ध अध्ययन निम्नलिखित है–

(1) योगिनी एकादशी - यह एकादशी आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष में मनायी जाती है। इस दिन लोग पूरे दिन का व्रत रखकर भगवान नारायण की मूर्ति को स्नान कराकर भोग लगाते हुए पुष्प , धूप , दीप से आरती करते हैं। गरीब ब्राह्मणों को दान भी किया जाता है। इस एकादशी के बारे में मान्यता है कि मनुष्य के सब पाप नष्ट हो जाते हैं तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(2) गुरु पूर्णिमा - आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा अथवा व्यास पूर्णिमा कहते हैं। इस दिन लोग अपने गुरु के पास जाते हैं तथा उच्चासन पर बैठाकर माल्यापर्ण करते हैं तथा पुष्प ,फल, वस्त्र आदि गुरु को अर्पित करते हैं। यह गुरु - पूजन का दिन होता है जिसकी प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है।

श्रावण मास के त्योहार के पर्व/मेले

(1) शिव जी के सोमवार व्रत व मेले- श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को शिव जी के व्रत रखकर पूजा अर्चना की जाती है। प्रत्येक सोमवार को गणेश , शिव-पार्वती तथा नन्दी की पूजा की जाती है तथा शिव - मन्दिरों पर मेले लगते हैं। श्रावण का पूरा महीना हिन्दुओं के लिए पवित्र माह होता है।

(2) नाग पंचमी- श्रावण की शुक्ल पंचमी को नाग पंचमी कहा जाता है। ज्योतिष व मान्यताओं के अनुसार पंचमी तिथि के स्वामी नाग हैं। अत: सर्प व नागों की पूजा पंचमी को होनी चाहिए। इसी मान्यता व परम्परा के अनुसार पूरे क्षेत्र में सर्पों के पीने के लिए कटोरी में दूध रखा जाता है तथा दीवार पर नागों का चित्र बनाकर उनकी पूजा की जाती है, बाद में अर्पित जल को घर के चारों कोनों व दिशाओं में छींटा जाता है।

(3) रक्षा बन्धन- यह त्योहार सावन माह की पूर्णिमा को सारे देश की ही भाँति यहाँ भी धूम - धाम से मनाया जाता है। यह पर्व भाई - बहन को स्नेह की डोर में बांधने वाला है। इस दिन बहन अपने भाई के हाथ में कलाई पर रक्षा बांधती है तथा मस्तिक पर टीका लगाती है। रक्षा बन्धन (रक्षा. बन्धन) का अर्थ है - अपनी रक्षा के लिए किसी को बाँध लेना। रक्षा बन्धन पर भाईयों

को राखी बाँधने सम्बन्धी अनेक प्राचीन व मध्यकालीन कथाएं प्रचलित हैं। संक्षेप में, समस्त भारतवर्ष की भाँति रुहेलखण्ड क्षेत्र में भी यह पर्व धूमधाम से मनाया जाता है।

भाद्रपद मास के त्योहार व मेले

(1) हरियाली तीज- यह तीज भादौं बदी तृतीया को खासतौर से उ. प्र. के बनारस व रुहेलखण्ड क्षेत्र में बड़े धूमधाम से मनायी जाती है। इसमें लड़कियां व महिलायें झूला डालकर उसमें कजरी गीत गाती हुयी झूला झूलती हैं। कजरी गीत वर्षा ऋतु के विशेष राग गीत होते हैं। इस दिन घरों में पूड़ी , मिष्ठान , पकवान बनाये जाते हैं तथा वर्षा ऋतु के इस पर्व को उत्सव की तरह मनाया जाता है। यह स्त्रियों का पर्व होता है, जो इस सम्पूर्ण क्षेत्र में धूमधाम से मनाया जाता है।

(2) श्री कृष्ण जन्माष्टमी- भादौं मास की कृष्ण अष्टमी को 'श्री कृष्ण जन्माष्टमी' उत्सव मनाया जाता है। इसी दिन भगवान श्री कृष्ण का जन्म मथुरा में हुआ था। समस्त भारत की तरह रुहेलखण्ड क्षेत्र में भी यह त्योहार धूमधाम से मनाया जाता है। दिन भर लोग व्रत रखकर पूड़ी, मिष्ठान पकवान,आदि बनवाते हैं तथा रात्रि को 12 बजे श्री कृष्ण की पूजा - अर्चना करके भोजन ग्रहण करते हैं। इस दिन घरों व मन्दिरों में झांकी सजायी जाती है तथा भजन - कीर्तन होते हैं तथा तीन दिन तक मन्दिरों में मेले लगते हैं जहाँ लोग सपरिवार झांकी देखने जाते हैं। जन्माष्टमी के दूसरे दिन 'नन्द उत्सव' मनाया जाता है। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि जन्माष्टमी के दिन व्रत रखने से मनुष्य के सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते है तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रत्येक हिन्दू धर्मानुयायी इस पर्व को धूमधाम से मनाते हैं।

(3) हरतालिका तीज- यह भाद्र शुक्ल पक्ष की तृतीया को मनाया जाने वाला पर्व - व्रत है। इसमें सुहागिन स्त्रियाँ अपने सुहाग की रक्षा के लिए भगवान शिव व पार्वती की मूर्ति बालू से बनाकर पूजन करती हैं तथा रात्रि में भक्ति गीत गाकर जागरण करती हैं। मान्यता है कि इस व्रत व पूजन को करने वाली स्त्रियाँ माँ पार्वती के समान सुखपूर्वक पति रमण करके शिवलोक को जाती हैं। यह व्रत इस क्षेत्र में ब्राह्मणों के परिवार में स्त्रियों द्वारा विशेष रुप से रखा जाता है।

(4) गणेश चतुर्थी- भादौं मास के शुक्ल पक्ष की चौथ को गणेश चतुर्थी पर्व मनाया जाता है। इसमें प्रातः काल गणेश जी की मिट्टी की मूर्ति

बनाकर श्री गणेश जी की पूजा की जाती है। पूजन में लड्डुओं का भोग लगाकर गणेश जी के 10 नामों का जप करते हैं।

वैसे तो यह पर्व पूरे भारत में मनाया जाता है, परन्तु रुहेलखण्ड क्षेत्र में मुरादाबाद जिले चन्दौसी नामक नगर में यह पर्व अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है तथा 15 दिन तक विशाल मेला लगता है। नगर में गणेश जी की विशाल शोभायात्रा निकाली जाती है तथा नगर में 15 दिन तक उत्सव का वातावरण रहता है। चन्दौसी का गणेश चतुर्थी का मेला पूरे उत्तर भारत में प्रसिद्ध है। इस मेले में दूर - दूर से लोग आते हैं तथा यहाँ प्रवास करते हैं।

(5) अनन्त चर्तुदशी- भादौं मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को मनाया जाने वाला यह पर्व भगवान श्री नारायण को समर्पित है। इस क्षेत्र में यह पर्व ब्राह्मणों - क्षत्रियों में प्रमुख रुप से मनाया जाता है। इसमें प्रातः स्नान आदि से निवृत होकर चौकी के ऊपर मण्डप बनाकर उसमे अक्षत या कुश के 7 कणों से शेष भगवान की प्रतिमा स्थापित करते हैं तथा उसके समीप 14 गांठे लगाकर हल्दी से रंगे कच्चे धागे को रखते हैं। तदुपरान्त पूजा - अर्चना करके 14 गाँठ लगे अनन्त को दायीं भुजा पर धारण करते हैं। मान्यता है कि इस दिन इस अनन्त को हाथ में बाँधने से अनन्त फल की प्राप्ति होती है तथा रक्षा होती है।

आश्विन मास के पर्व -त्योहार , मेले

(1) नवरात्रे (नव दुर्गा व्रत)- आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक यह व्रत 9 दिन तक मनाया जाता है। इसमें नौ दिन तक नौ देवियों की पूजा - अर्चना की जाती है। इसमें प्रथम दिन (प्रतिपदा)प्रातः स्नानादि से निवृत होकर 9 दिनों तक व्रत के लिए संकल्प करके मिट्टी की वेदी बनाकर उसमें जौं बोते हैं तथा उसी स्थान पर घट (घड़ा/कलश)स्थापित करते हैं। घट के ऊपर कुल देवी की प्रतिमा स्थापित कर उसका पूजन करते हैं तथा दुर्गा सप्तशती का पाठ किया जाता है। रुहेलखण्ड क्षेत्र के बरेली नगर में वमनपुरी नामक मुहल्ले में इन नवरात्रों में रामलीला तथा मेले का आयोजन होता है।

दुर्गाष्टमी त्योहार आश्विन शुक्ल पक्ष अष्टमी को आता है। इस दिन व्रत रखकर दुर्गादेवी की पूजा की जाती है। भगवती दुर्गा को चने , हलवे , खीर , पूड़ी , पुआ आदि का भोग लगाया जाता है। अधिकांश घरों में इस दिन हवन आदि भी होते हैं।

(2) दशहरा (विजयदशमी)- हिन्दुओं का प्रसिद्ध पर्व दशहरा अश्विन शुक्ल पक्ष दशमी को मनाया जाता है। इसी दिन भगवान श्री राम ने रावण को मारकर उस पर विजय प्राप्त की थी। मुख्य रुप से यह क्षत्रिय व ब्राह्मणों का पर्व है, परन्तु पूरे भारत में समस्त हिन्दू धर्मानुयायिओं द्वारा यह पर्व खूब धूमधाम से मनाया जाता है। इस दशमी से एक सप्ताह पूर्व ही सभी स्थानों पर रामलीला मेला प्रारम्भ हो जाता है, जो दशहरा तक चलता है तथा रावण बध की लीला पर समाप्त होता है। प्रत्येक वर्ष रावण का पुतला भगवान श्री राम द्वारा जलाना वास्तव में बुराई पर अच्छाई का प्रतीत होता है। इस दिन क्षत्रिय लोग अपने अस्त्र - शस्त्रों की पूजा की जाती है। ब्राह्मणों द्वारा भगवान श्री राम की सपरिवार पूजा - अर्चना की जाती है। रुहेलखण्ड के समस्त क्षेत्र में यह पर्व बड़े उत्साह से मनाया जाता है तथा सभी नगरों में रामलीला का मंचन तथा मेलों का आयोजन होता है। विशेष रुप से पीलीभीत जनपद में वीसलपुर का दशहरा मेला दूर - दूर तक प्रसिद्ध है, जो एक माह तक चलता है और दूर - दूर से दर्शक और दुकानदार यहाँ आते हैं। इसके अतिरिक्त सभी नगरों , कस्बों , मुहल्लों में दशहरा मेलों का आयोजन होता है।

(3) शरद -पूर्णिमा- श्विन शुक्ल पूर्णिमा को शरद पूर्णिमा कहा जाता है। इसे कौमुदी व्रत भी कहते हैं। रासोत्सव का यह दिन वास्तव में भगवान श्री कृष्ण द्वारा जगत की भलाई के लिए निश्चित किया गया है , ऐसी इस क्षेत्र में पारम्परिक मान्यता है। इस दिन मन्दिरों में विशेष सेवा पूजन किया जाता है तथा रात्रि में भगवान को खीर अथवा दूध से भोग लगाया जाता है।

कार्तिक माह के पर्व-त्योहार, मेले

(1) करवा चौथ- यह पर्व कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष को चनद्रोदयव्यापिनी में होता है। यह भारतीय हिन्दू सुहागिन स्त्रियों का मुख्य त्योहार है। सौभाग्यवती सुहागिन स्त्रियां स्वपति के रक्षार्थ तथा लम्बी आयु की कामना व जीवनपर्यन्त सुहागिन रहने को निराहार व्रत रखती हैं। सायंकाल को शिव , चन्द्रमा , स्वामी कार्तिकेय आदि के चित्रों व सुहाग की वस्तुओं की पूजा की जाती है। बाद में चन्द्रमा निकलने पर चन्द्रदर्शन करने के बाद चन्द्र को अर्ध्य देकर भोजन करती हैं। यह पर्व समस्त हिन्दू धर्मानुयायी स्त्रियों द्वारा प्रमुखता से मनाया जाता है।

(2) अहोई अष्टमी- यह त्योहार कार्तिक कृष्ण पक्ष अष्टमी को मनाया जाता है। इस दिन माँ अपनी सन्तानों की लम्बी आयु के लिये दिन भर व्रत

रखकर सायंकाल में तारे निकलने के बाद दीवार पर अहोई बनाकर पूजा करती हैं। अहोई देवी के चित्र के साथ- साथ सेही और सेही के बच्चों के चित्र बनाकर भी पूजा की जाती है।

(3) धनतेरस- यह त्योहार दीपावली के आने की सूचना देता है। यह पर्व कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की त्रियोदशी को मनाया जाता है। इस दिन घर में लक्ष्मी का आवास मानते हैं। इसी दिन धनवन्तरी समुद्र से अमृत कलश लेकर प्रकट हुये थे , इसलिए धनतेरस को 'धनवन्तरी- जयंती' भी कहते हैं। इस पर्व में सायं को लक्ष्मी , कुवेर व धनवन्तरी की पूजा की जाती है तथा घर में कोई नया बर्तन खरीद कर लाते हैं, इसके पीछे मान्यता है कि इस दिन खरीद्दारी करने से घर में समृद्धि आती है।

(4)नरक चर्तुदशी- कार्तिक कृष्ण पक्ष की चर्तुदशी के दिन नरक चर्तुदशी मनाया जाता है। यह दीपावली से एक दिन पूर्व होता है। इस दिन नरक से मुक्ति पाने के लिए प्रातः काल शरीर में तेल लगाकर चिचड़ी पौधा सहित स्नान करते हैं तथा शाम को यमराज के लिए सरसों के तेल में जलाकर दीपदान करते है, जो घर के द्वार के बाहर किया जाता है। मान्यता है कि इसी दिन भगवान श्री कृष्ण ने नरकासुर नामक दैत्य का वध किया था।

(5) दीपावली- कार्तिक मास की अमावस्या के दिन दीपावली का पर्व मनाया जाता है। पूरे भारत की ही भाँति इस क्षेत्र में भी यह त्योहार प्रमुखता से मनाया जाता है। इस दिन भगवती महालक्ष्मी का उत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। इस दिन लक्ष्मी जी के आगमन की खूब तैयारी की जाती है जैसे घर की सफाई , लिपाई करना, मिष्ठान - व्यंजन आदि बनाना। शाम को लक्ष्मी गणेश , श्री नारायण व अन्य देवों की पूजी - अर्चना करके व मिष्ठानों से भोग लगाकर पूरे घर में दिये जलाकर रोशनी की जाती है तथा उमंग में पटाखे तथा आतिशबाजी छोड़ी जाती है। लक्ष्मी जी के आगमन के लिए पूजा गृह में रात्रि भर एक दीपक से काजल बनाकर सभी स्त्री - पुरुष - बच्चे अपनी आँखों पर लगाते हैं। यह त्योहार बड़े उत्साह व उमंग से मनाया जाता है।

(6) गोर्वधन पूजा (अन्नकूट)- दीपावली के अगले दिन कार्तिक शुक्ल की प्रतिपदा को अन्नकूट उत्सव मनाया जाता है,इसी दिन गोर्वधन पूजा भी की जाती है। इस दिन प्रातः काल स्त्रियां घर के आंगन में गोबर का अन्नकूट बनाकर भगवान श्री कृष्ण व गायों की पूजा करती हैं। यह पर्व रुहेलखण्ड के समीपवर्ती ब्रज क्षेत्र में प्रमुख रुप से धूमधाम से मनाया जाता

है। इस दिन मन्दिरों में विविध प्रकार की खाद्य- सामग्रियों से भगवान का भोग लगाया जाता है।

(7) भैया दूज- यह त्योहार कार्तिक शुक्ल पक्ष की तृतीया को मनाया जाता है। यह पर्व भाई-बहन के प्रेम का प्रतीक है। इस दिन बहनें अपने भाई को तिलक लगाकर , आरती उतारकर मिष्ठान खिलाती है तथा उनके दीर्घायु होने की कामना करती हैं तथा श्रद्धावान भाई-बहनों के चरण - स्पर्श कर उनको वस्त्र, धन आदि अर्पित करते हैं।

(8) कार्तिक पूर्णिमा- इसे त्रिपुरी पूर्णिमा भी कहते हैं। इस तिथि को भगवान श्री नारायण का मत्स्यावतार हुआ था। इस दिन गंगा स्नान तथा दान का महत्व है। रुहेलखण्ड क्षेत्र में इस दिन गंगा घाट कछला (जनपद वदायूँ) , ढाई घाट (जनपद शाहजहाँपुर) तथा रामगंगा (चौवारी - बरेली) में विशाल मेलों का आयोजन होता है।

मार्गशीर्ष (अगहन) के त्योहार एवं मेले

(1) भैरव जयन्त- मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष अष्टमी के दिन भैरव जी का जन्म हुआ था। इस पर्व में दिनभर व्रत रखकर जल का अर्ध्व देकर भैरव जी का पूजन किया जाता है। रात्रि में जागरण कर शिव- पार्वती की तथा भैरव जी की पूजा जाती है क्योंकि भैरव जी को भगवान शिव का ही रुप माना जाता है।

(2) मार्गशीर्ष पूर्णिमा व्रत- यह व्रत मार्गशीर्ष पूर्णिमा को रखा जाता है। सबसे पहले नियमपूर्वक व्रत रखकर भगवान श्री नारायण की उपासना की जाती है तथा वेदी बनाकर हवन किया जाता है। रात्रि में चन्द्रमा को अर्ध्व देकर पूजन किया जाता है।

पौष (पूष) माह के त्योहार एवं मेले

(1) पौष पूर्णिमा स्नान- यह स्नान पौष की पूर्णिमा से प्रारम्भ होता है। इस स्नान के लिए रुहेलखण्ड क्षेत्र में गंगा घाट पर कछला (जिला - बदायूँ) तथा ढ़ाई घाट (जिला शाहजहाँपुर) एवं रामगंगा घाट चौबारी (जिला - बरेली) में विशाल मेले लगते हैं, जो दो सप्ताह तक चलते हैं तथा अधिकांश ग्रामीण श्रद्धालु यहाँ डेरा डालकर मेंले में रहते हैं तथा गंगा स्नान एवं मेले का आनन्द उठाते हैं।

(2) मकर संक्रान्ति- पौष मास में जब सूर्य मकर राशि पर आता है जब इस पर्व को मनाया जाता है। अंग्रेजी तिथि के अनुसार प्रत्येक वर्ष 14 जनवरी को मनायी जाती है। इस दिन गंगा स्नान करके , तिल के मिष्ठान आदि को ब्राह्मणों व पूज्य व्यक्तियों को दान दिया जाता है। इस पर्व पर भी क्षेत्र में गंगा एवं रामगंगा घाटों पर बड़े मेले लगते हैं। दक्षिण भारत में इसी पर्व को पोंगल भी कहा जाता है।

माघ (माह) मास के पर्व -त्योहार, मेले

(1) सकट चौथ- यह पर्व हिन्दू स्त्रियों द्वारा माघ कृष्ण पक्ष चर्तुथी को व्रत व पूजन द्वारा मनाया जाता है व चन्द्रमा की पूजा की जाती है। दिन भर व्रत रहने के बाद शाम को चन्द्र दर्शन के बाद चन्द्रमा , गौरी- शंकर व गणेश की दूव , तिल ,गुड़, मिष्ठान से भोग लगाकर पूजा की जाती है तथा सकट देव की कथा सुनी-सुनाई जाती है। यह पर्व पूरे क्षेत्र में उल्लास के साथ मनाया जाता है।

(2) बसंत पंचमी- यह त्योहार माघ शुक्ल पक्ष की पंचमी को उत्सव की तरह मनाया जाता है। वास्तव में यह पर्व ऋतुराज बसंत के आगमन की सूचना देता है। इसी दिन से होली गीत गाये जाने प्रारम्भ हो जाते हैं। गेहूँ तथा जौं की स्वर्णिम बालियाँ भगवान को अर्पित कर कानों पर लगायी जाती है। इस दिन देवी सरस्वती व श्री विष्णु की विशेष आराधना की जाती है तथा गाँवों में मेले लगते हैं।

(3) माघ पूर्णिमा- माघ पूर्णिमा का धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्व है। यह पर्व स्नान का अन्तिम प्रतीक है तथा इस दिन स्नान आदि करके विष्णु पूजन तथा दान देने का विशेष फल मिलता है। रुहेलखण्ड क्षेत्र में कछला गंगा घाट (बदायूँ) ढाई घाट (शाहजहाँपुर) तथा रामगंगा घाट चौबारी (बरेली) पर बड़े गंगा मेले लगते हैं तथा यहाँ दूर-दूर से लोग आते हैं।

फाल्गुन मास के पर्व - त्योहार एवं मेले

(1) महाशिवरात्रि- फाल्गुन कृष्ण पक्ष चर्तुदशी को भगवान शिव की महाशिवरात्रि का महोत्सव मनाया जाता है। इस दिन लोग पूरे दिन व्रत रखते हैं तथा शिव मन्दिरों में जाकर भगवान शिव व शिवलिंग को जल , दुग्ध , पुष्प अर्पित कर पूजा अर्चना करते हैं। पूजन विधान में वेलपत्र तथा धतूरा भी चढ़ाते

हैं। इस क्षेत्र में यह त्योहार बड़े धूमधाम से मनाया जाता है तथा शिव मन्दिरों में श्रद्धालुओं की लम्बी कतारें व मेले लगते हैं। प्रमुख मेले पचोमी , अलखनाथ, धोपेश्वरनाथ,गुलड़ियो गौरीशंकर, बाबा विश्वनाथ मन्दिर (बरेली जनपद) में लगते हैं।

(2) होली- फाल्गुन मास की पूर्णिमा को धूमधाम से मनाये जानेवाले रंगों का यह त्योहार हिन्दुओं का बहुत बड़ा पर्व है। इस दिन सभी स्त्री-पुरुष ,बच्चे प्रात:काल होलिका दहन करके सपरिवार पूजा करते हैं तथा होली गीत गाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में होली के गीत ढोल - बाजों के साथ गाये जाते हैं। होलिका दहन के बाद एक दूसरे से रंग - गुलाल , अवीर से होली खेलते हैं तथा एक दूसरे से गले मिलते हैं एवं बड़े -बुजुर्गों के पैर छूकर आशीर्वाद लेते हैं। दोपहर को स्नानादि से निवृत होकर नये कपड़े पहनते हैं तथा एक दूसरे के घर होली मिलने जाते हैं।

इस दिन घरों में पूरी, खीर ,मिष्ठान्न व अनेक व्यंजन बनते हैं। शाम को होली मिलाप के मेले लगते हैं जहाँ पुरुष जाते हैं तथा सभी से गले मिलते हैं। समस्त भारत की भाँति रुहेलखण्ड क्षेत्र में भी होली का त्योहार बड़े धूमधाम व उल्लास से मनाया जाता है।

चौत्र (चैत) मस के पर्व, मेले

(1) धूलिका पर्व- चौत्र मास कृष्ण पक्ष प्रतिपदा को होली के बाद यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन होलिका दहन की अवशिष्ट राख को सभी लोग श्रद्धापूर्वक मस्तक पर लगाते हैं।

(2) बासोड़ा- यह त्योहार होली के एक सप्ताह बाद चौत्र मास के कृष्ण पक्ष में सोमवार या गुरुवार को मनाया जाता है तथा शीतला माता की पूजा की जाती है। बासोड़ा में भोजन एक दिन पूर्व ही बनाकर रख दिया जाता है तथा बासोड़ा वाले दिन वही भोजन किया जाता है।

(3) नवरात्रे (दुर्गा पूजन)- यह चौत्र मास के शुक्ल पक्ष प्रतिपदा से लेकर रामनवमी तक (9 दिन)दुर्गा पूजन के रुप में मनाया जाता है। इन 9 दिनों उपवास रखकर नौ देवियों तथा कन्याओं का पूजन किया जाता है तथा दुर्गा सप्तशती का पाठ करके दुर्गा पूजन किया जाता है। नवें दिन हवन आदि करके कन्या व ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान दिया जाता है।

(4) रामनवमी- मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम का जन्म चौत्र शुक्ल नवमी को हुआ था, इसलिए इस तिथि को रामनवमी के नाम से जाना जाता है। पूरे भारत में हिन्दू धर्मानुयायियों द्वारा यह दिन श्री राम जन्म महोत्सव के रुप में बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। प्रातः काल पूजन में श्री राम को पंचामृत से स्नान कराके धूप, दीप, आदि के द्वारा पूजा की जाती है। दोपहर तक व्रत रखने के बाद रामचरित मानस का पाठ करने के बाद भगवान की आरती उतारी जाती है। अनेक स्थानों पर इस दिन मेले भी लगते हैं।

वैशाख मास के पर्व - त्योहार , मेले

(1) वैशाखी पूर्णिमा मेला- वैशाखी पूर्णिमा स्नान लाभ की दृष्टि से महत्वपूर्ण पर्व है। इस दिन गंगा जैसी पवित्र नदी में स्नान करने से सभी पाप नष्ट होते हैं, ऐसी मान्यता है। इस दिन यहाँ के गंगा घाटों (कछला , ढाई घाट , चौबारी) पर बड़े मेले लगते है।

(2) सोमवती अमावस्या- यह स्त्रियों का प्रमुख व्रत है। जिस दिन अमावस्या को सोमवार हो उस दिन यह व्रत रखा जाता है तथा पीपल के वृक्ष की 108 बार परिक्रमा करते हुए पीपल तथा भगवान विष्णु की पूजा की जाती है।

ज्येष्ठ (जेठ) मास के पर्व - त्योहार, मेले

(1) वट पूजन- ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या को यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन सत्यवान , सावित्री, यमराज की पूजा की जाती है। मान्यता है कि व्रत रखकर वटवृक्ष की पूजा करने वाली स्त्रियों का सुहाग अचल होता है। सुहागिन स्त्रियों द्वारा यह व्रत - पर्व पूरे क्षेत्र में मनाया जाता है।

(2) श्री गंगा दशहरा- ज्येष्ठ सुदी दशमी को गंगा दशहरा पर्व मनाया जाता है। इसी दिन नदियों में श्रेष्ठ गंगा जी भागीरथ द्वारा पृथ्वी पर लायी गयी थीं। गंगा स्नान करके , दान पुण्य करने से सभी पापों से मुक्ति मिलती है, ऐसी पारम्परिक मान्यता है। इस दिन भी इस क्षेत्र में गंगा घाटों पर स्नानदि श्रद्धालुओं की बड़ी भीड़ जुटती है तथा गंगा - मेलें का आयोजन होता है।

(3) निर्जला एकादशी- इस व्रत में सुहागिन स्त्रियां पति की लम्बी आयु के लिए बिना जल पिये, बिना कुछ खाये-पिये व्रत रखती हैं। इस दिन गंगा स्नान तथा दान देने का भी विशेष महत्व है।

लोक संस्कृति और नवगीत

किसी भी देश की लोक संस्कृति उसकी जातीय स्मृति का रूपक होती है। किसी भी समुदाय की समूची जातीय इयत्ता उससे परिभाषित होती है। वह उस समुदाय की आध्यात्मिक-नैतिक चेतना को भी रूपायित करती है। लोक में पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रचलित-प्रचारित रीति-रिवाजों एवं संस्कारों से उसकी निर्मिति होती है। यही वह भावभूमि है, जिससे समुदाय के सारे रिश्ते-नाते, उसके तीज-त्यौहार उपजते हैं। उस समुदाय की उत्सवधर्मिता को लोक संस्कृति ही पालती-पोसती है, उसका संवर्धन-परिवर्द्धन करती है। इसी से उसकी अलग पहचान बनती है यानी वह उसके जातीय बोध को व्याख्यायित करती है। उस लयात्मकता को भी जिससे वह पूरा समुदाय अपने अंग-संचालन, नृत्य-गान, काव्य-साहित्य आदि सभी मानुषी उत्सव की क्रियाओं को संचालित करता है, यही संस्कृति बोध उपजाता है। अवचेतन में इसी की गूँज हमारे सारे चेतन क्रिया-कलापों को एक आकर्षक आकृति देती है।

लोक संस्कृति की चेतना या जातीय बोध का कविता से क्या रिश्ता है, यह एक रोचक प्रश्न है। लयात्मकता दोनों की साँझी प्रकृति है। कविता का प्रारंभिक और आदिम रूप लोकगीतों में ही उपलब्ध हुआ, आज भी उपलब्ध है। वस्तुतः कविता अपने-आप में एक लोकधर्मी सांस्कृतिक क्रिया है और मनुष्य की जातीय संस्कृति-संचेतना की उद्‌भावना उसमें सहज और स्वतः होती है। सांस्कृतिक चेतना को संक्रमित-विस्तारित करने का भी यह सबसे प्रामाणिक माध्यम है। वैश्विक धरातल पर आज हम उस जातीय संस्कृति-बोध को प्रक्षेपित करने को एक ओर समुत्सुक भी हैं तो दूसरी ओर उसके विशद विश्वव्यापी माहौल में बिला जाने की आशंका से ग्रस्त भी हैं। एक प्रकार से हम अपने जातीय बोध को वर्तमान समय में पुनर्व्याख्यायित कर रहे हैं। इस अभियान में आज की गीतिकविता की, विशेष रूप से नवगीत की विशिष्ट भूमिका रही है। लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई नवगीत-यात्रा के सभी चरणों में जातीय अस्मिता और संस्कृति-बोध की जितनी प्रखरता से अभिव्यक्ति हुई है, उतनी संभवतः कविता की अन्य किसी विधा में नहीं हुई है। लोक सांस्कृतिक चेतना की यह धारा नवगीत में निरंतर प्रवाहित रही है। कहीं प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में तो कहीं प्रच्छन्न और परोक्ष रूप में। नवगीत में लोक-संस्कृति की उपस्थिति के प्रश्न पर नीचे एक उदाहरण दिया जा रहा है।

"उधर संत कहारिन कहती है कवि कोई एक कैसे हो सकता है। कवि सभापति कैसे हो सकता है। कवि हाकिम कैसे हो सकता है। हाकिम तो संत है क्योंकि संत ही लोक है और यह कि जीवित वही है, जो लोक में है। जो लोक में नहीं वह ताबूत में है। मानव जाति के इतिहास में केवल एक व्यक्ति हुआ है, जो सौ फीसदी लोक से जुड़ा रहा, उसका नाम है श्रीकृष्ण। इसी कारण उसकी वाणी महागीत है, गीता है। किसी भी संत से पूछकर देख लो वह कविता पसंद करेगी। कविता में छंद पसंद करेगी।... उसे कविता में सुख-दुख का जिकर पसंद आयेगा। सुख-दुख भी आदमी का क्योंकि आदमी ही आदमी को पहचानता है . .. संत को अपनी ही भाषा में कविता पसंद आती है - अपनी यानी अम्मा के द्वारा दी गयी भाषा...लय-छंद हो, प्रतीकात्मक कहन हो, सहज भाषा हो, मानव जीवन की बात हो और हर पल नई निकोर ताजगी हो, तभी तो वह संत को पसंद आएगा।"

तो यह लोक तत्त्व है, जो कविता को प्राण देता है और इस लोक तत्त्व वाली कविता के उपादान हैं - आदमी को पहचान देते उसके सुख-दुख, अम्मा के द्वारा दी गयी भाषा और हर पल नई निकोर ताजगी वाली लय-छंदात्मक कहन। संत कहारिन की समझ यानी सहज बुद्धि ही वह कसौटी है, जिससे हम सही कविता की परख कर सकते हैं। नवगीत में लोक-संस्कृति की उपस्थिति का प्रश्न एक ओर इसी जीवंत लोक चेतना से जुड़ा है, जो लोकगीतों, लोक-कहनों या गली-नुक्कड़ पर फिरते साधू-फकीर के सधुककाड़ी गायन से उसमें आई और दूसरी ओर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही उस सांस्कृतिक विरासत से संबद्ध है, जिसमें घर-घर में रोज सुबह जलता तुलसीचौरे पर का दीया है, नुक्कड़ का शिवाला या देवीचौरा है, अक्षत, चन्दन, .गोरोचन, हल्दी ,रोली, दूध-दही, कुमकुम वाले मंगल-घट की जातीय स्मृतियाँ हैं। मस्जिद की अजान और देवीचौरा की आरती एक-साथ इस लोक-संस्कृति में उपस्थित है। नवगीत इन्हीं संस्कृति-पहचानों का काव्य है। जो संत कहारिन के सोच में है, वही नवगीत में है यानी सब कुछ को स्वीकारने - अपनाने का सहज भाव। वस्तुतः नवगीत अवचेतना का काव्य है, उस सामूहिक अवचेतना का जो किसी समुदाय को समग्र रूप में परिभाषित करता है। नवगीत की सांस्कृतिक चेतना लोक में उपजी लोक से प्राप्त संचेतना है। इसीलिए वह सहज जीवंत है। लोक से प्राप्त, लोक में व्याप्त सांस्कृतिक बिम्ब नवगीत की कहन के सबसे समृद्ध स्रोत हैं। गाँव की सुबह का दृश्यांकन करती गुलाब सिंह की ये गीत-पंक्तियाँ इसी लोक-समृद्ध कहन की बानगी देती हैं -

हरे लहरे खेत टहकारती सोना पतारी
ले रहे बाबा हरी का नाम
खींचतीं अम्मा पकड़कर कोर चादर की
उठीं दीदी-जगीं अँगड़ाइयाँ
खनकता आँगन सँवरते बरतनों से
लीपतीं चौका-ओसारा भोर-सी भौजाइयाँ
दोहनी में धार/तार सितार के बजते
सुबह के संगीत होते काम

इसी सुबह के संगीत होते काम वाली संचेतना से हमारे रिश्ते-नाते व्याख्यायित होते हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह हमारे नेह के नातों को यों परिभाषित करते हैं -

माँ हमारी दूध का तरु/बाप बादल
और बहन हर बोल पर
बजती हुई मादल
उतर आ हंसी कि मैं वंशी

नवगीत की एक विशिष्टता है उसकी गहरी लोक संपृक्ति। यह लोक संपृक्ति नवगीत में कई रूपों में प्रकट हुई है। मसलन हमारे विविध ऋतु-प्रसंग, हमारे उत्सवधर्मी तीज-त्यौहार, हमारे पारस्परिक नेह-भाव से बँधे गाँव-गली के तमाम रिश्ते-नाते, हमारे खेत-खलिहान-नदी-झील-झरनों-पठारों-घाटियों-मैदानों से परिभाषित हमारा राष्ट्र-बोध और भी तमाम रूपक जो हमें लोक-संस्कृति से सहज प्राप्त हैं। इसी सहज आस्तिक भाव से उपजे हैं ये नवगीत-प्रसंग -

मेरी कोशिश है कि नदी का बहना मुझमें हो
मैं न रुकूँ संग्रह के घर में
धार रहे मेरे तेवर में
मेरा बदन काटकर लहरें
ले जाएँ पानी ऊसर में
जहाँ कहीं हो बंजरपन का मरना मुझमें हो (शिवबहादुर सिंह भदौरिया)

देख लिया बादल को जी के
अनडूबे पाट हम नदी के
कहाँ देवदास की भुजाएँ
जहाँ मोहभंग समस्याएँ

अनफूले फूल इस सदी के (देवेन्द्र कुमार)
बहो तुम भी बहो जैसे नदी
झेलकर सब शीत वर्षा घाम
लिख गई तट पर नगर वन ग्राम
सृष्टि की यह कथा तुम भी कहो जैसे नदी (सत्यनारायण)

यह नदी होकर सृष्टि की कथा कहते हुए बहने का आग्रह नवगीत में बार-बार उपजा है। कहीं सहज जीवन- धर्म बनकर तो कहीं अस्तित्त्व के संघर्ष का प्रतीक बनकर। वह रसमयता जो नदी में है वही नवगीत की संवेदना में है। लोक-संस्कृति के टूटने-बिखरने, उसके धीरे-धीरे बिला जाने की व्यथा-कथा नवगीत में जगह-जगह कही गई है।

देवेन्द्र शर्मा 'इंद्र' अपने 'सूर्यमुखी संपाती यात्रा' वाले गीतों में 'मंगल कुमकुम वाले घट के किसने बूटों से ठुकराकर ठीकरे बिखेरे' के प्रश्न से और दूध-दही, गोरोचन, अक्षत, घृत, तुलसी की मांगलिक छवियों और 'दादी के आँचर के दाख-छुहारे दादा की पगड़ी के गेंद कतारे' की मन्त्रवती परम्परा के बिला जाने के प्रसंग से उद्वेलित हैं। लोक में व्याप्त पौराणिक-सांस्कृतिक आख्यायिकाओं का आधुनिक सन्दर्भों को व्याख्यायित करने के लिए जैसा सटीक बिमबागत्मक उपयोग 'इंद्र' जी ने अपने गीतों में किया है, वैसा, मेरी दृष्टि में, अन्य कोई नवगीतकार नहीं कर पाया है।

नईम 'शिकमी हो या जोतदार क्षण आये हैं खेतों थकने के' के छटपटाहट भरे अहसास को क्रांति के स्वर के शोर हो जाने की नियति से जोड़कर लोक संस्कृति के आहत होने की चिंता को यों व्यक्त करते हैं -

दूब अक्षत हरी टहनी/ बूँद-भर जल/ गोद माँ की
भीड़-भाड़े के बसेरे/ दिवस तिरछे राह बाँकी
शोर में डूबे हुए हैं क्रांति के स्वर

अनूप अशेष दर-ब-दर सर्वहारा की पीर की गाथा यों कहते हैं -

बाँस का टूटा हुआ जंगला/फटी भीती
बंधु, हम यहाँ रहते हैं
द्वार पर तहसील सी धमकी हवा
... ...
पाँव से सिर तक लपेटे हुक्म
दर न छोड़ने के संस्कार

कुएँ में ठहरा हुआ सूखा/प्यासी गाय
बन्धु, खुलकर नहीं कहते हैं

'घर' का प्रयोग नवगीत में हमारी नेह-अस्मिता को प्रतीकार्थ में व्याख्यायित करने के लिए हुआ है। माहेश्वर तिवारी घर को ममतामयी शरणस्थ्ली के रूप में पाते हैं -

धूप में जब भी जले हैं पाँव घर की याद आई
नीम की छोटी छरहरी छाँव में डूबा हुआ मन
द्वार का आधा झुका बरगद पिता-माँ से बंधा आँगन
सफर में जब भी दुखे हैं पाँव घर की याद आई

वहीं दूसरी ओर ओम प्रभाकर इसे टूटन और चिंताओं के प्रतीक के रूप में देखते हैं -

जैसे-जैसे घर नियराया बाहर बाबू बैठे दीखे
लिये उमर की बोझिल घड़ियाँ भीतर अम्मा रोटी करतीं
लेकिन जलतीं नहीं लकड़ियाँ
कैसा है यह दृश्य कटखना मैं तन से मन तक घबराया

कुमार रवीन्द्र के एक गीत में इसी संदर्भ का एक तीसरा पक्ष उजागर हुआ है। पुश्तैनी घर की नई पीढ़ी के द्वारा उपेक्षा का मार्मिक चित्रण उसमें हुआ है। देखें -

माँ को है लकवा हैं बाउजी बूढ़े
घर के हर कोने में ढेरों हैं कूड़े
चूती है छत कच्ची लोनी दीवारें
दरवाजे-खिड़की से झाँकती दरारें
बेटों की नेकटाई बहुओं के जूड़े
पानी बिन सूख रही गमले की तुलसी
ढह रही बरांडे में दादा की कुरसी
भीग रहे आँगन में पड़े हुए मूढ़े
काँपते कैलेंडर पर पिछली तारीखें
बता रहीं कितनी हैं बुढ़ा रहीं लीकें
अगले दिन-हफ्तों को कौन यहाँ ढूँढ़े

लोक संस्कृति में मानव संस्कारों के पराभव का यह दृश्य अकेला नहीं है। पारंपरिक नैतिक मूल्यों और उनको पालते-पोसते आस्था-बिम्बों की पराजय की प्रतीक-कथा नवगीत में बार-बार कही गई है।

भारतीय जातीय और राष्ट्र बोध की कल्पना, जिसे पहली बार महाभारत में आकार मिला, तुलसी, सूर, कबीर , मीरा की बानी से होती हुई भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, दिनकर के काव्य तक आते-आते एक प्रखर राष्ट्रीय चेतना बनकर उभरी। नवगीत में राष्ट्र-बोध हमारी लोक सांस्कृतिक चेतना का हिस्सा बनकर ही अभिव्यक्त हुआ। शम्भुनाथ सिंह इसे इसी रूप में देखते हैं -

देश हैं हम महज राजधानी नहीं
हम बदलते हुए भी न बदले कभी
लड़खड़ाये कभी और सँभले कभी
हम हजारों बरस से जिसे जी रहे
जिंदगी वह नई या पुरानी नहीं
और
सब की सीमायें पर मेरी सीमा नहीं
एक मैं हूँ कि गुम रौशनी की खबर
बाँटता हूँ इधर बाँटता हूँ उधर

यह जो असीम होकर रोशनी बाँटने की आस्तिकता है, यही तो है वह मूल लोक सांस्कृतिक चेतना, जिससे भारत की राष्ट्रीय अस्मिता परिभाषित होती है। इसी चेतना का अटूट हिस्सा हैं हमारी नदियाँ - गंगा, यमुना, सरस्वती, सिंध, व्यास, सतलुज, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा, ब्रह्मपुत्र। गंगा तो हमारी संस्कृति का मेरुदंड ही है। वह मात्र एक नदी नहीं है। वह तो पूरा एक मिथक है हमारी अन्तःचेतना का मातृत्व के प्रतीक इस नदी का आख्यान उमाकांत मालवीय ने अपनी इन गीत पंक्तियों में बड़े ही सम्मोहक बिम्बों में किया है -

भूखा कहीं देवव्रत टेरे, दूध भरी है छाती
दौड़ रही ममता की मारी, तजकर संग-संगाती
गंगा नित्य रँभाती फिरती जैसे कपिला गइया
सारा देश क्षुधातुर बेटा, वत्सल गंगा मइया

इन पावन गंगाओं के भ्रष्ट होने की त्रासदी की कथा भी नवगीत ने कही है -

अब न वे नदियाँ न वे नावें हवायें भी नहीं अनुकूल
हर सुबह होती किनारे लाश पानी पर उगे मस्तूल
आँधियों के ये समर्पित भाव पहचाने नहीं जाते (उमाशंकर तिवारी)

राजेन्द्र गौतम महानगर में आकर अपने खुली खिड़कियों वाले घर को तलाशते मन के अपने सीमांत को गूँगे होते देखते हैं –

एक खिड़कियों वाला घर हम कब से रहे तलाश
बिसरे बाबा के बरगद की छाया के दृष्टान्त
सड़कों से है लगातार उठता जंगल का शोर
ऋचा नहीं यह है शहरों का छन्दहीन इतिहास
गूँगे हुए यहाँ आकर मन के सारे सीमांत

बुद्धिनाथ मिश्र आज के कबंध से युग में 'घर अपना हो गया आज पर्चों की एक सराय' के साथ 'जलावतन का दर्द झेलता आंगन का मेहराब' वाले वातावरण में 'सिरहाने के धरे फूल की किसको रही खबर' की त्रासदी का अंकन करते हैं। विजयकिशोर मानव घर को कसाईबाड़े में तब्दील हो जाने की खबर देते हैं, क्योंकि सारा रागात्मक परिवेश ही आज विखंडन की त्रासदी झेल रहा है –

घर हो गये कसाईबाड़े मुर्दाघर से शहर
... ...
नन्हीं गौरैया के सिर पर दिन की छत तपती
मैना बूढ़ी हुई पेट की रामायण जपती
बाहर से हैं बंद किवाड़ें पिंजरे की सब उमर
राम क्या होना है

योगेन्द्र दत्त शर्मा की ये गीत पंक्तियाँ गाँव यानी मनुष्य की मूल सांस्कृतिक रागात्मकता के , जो अभी भी स्मृतियों में उपस्थित है, वर्तमान समय में पराभव को जिस प्रखरता से अभिव्यक्त करती हैं, उससे नवगीत की वर्तमान चिंताओं का बखूबी पता चलता है –

बर्फ सी ठंडी हुई है रेत पर खरगोश अब तक तिलमिलाता है
बस्तियों में काँच सा मन टूट जाता है
गाँव जब पीछे शहर से छूट जाता है
बीच आँगन में खड़ी तुलसी स्वयं अपराजिता सी
वत्सला अमराइयाँ वह छाँह पीपल की पिता सी
एक झोंका स्नेह का मन गुदगुदाता है

नवगीत की लोकोन्मुखी दृष्टि और लोकधर्मिता उसके कथ्य के सरोकारों और उसकी चिंताओं में साफ झलकती है। लोकाग्रही ये चिंताएँ स्वातंत्र्योत्तर

कालखंड में तेजी से पनपी लोक-विरोधी स्थितियों और शक्तियों के बढ़ते वर्चस्व से ही उपजी है। डॉ. सुरेश के इस गीत-अंश में राजनीति और पूँजी-केन्द्रित आर्थिक विकास के पंच में फँसी मानुषी आस्तिकता के आहत होने की व्यथा बखूबी व्यक्त हुई है -

कंधे कुली बोझ शहजादे कोई फर्क नहीं
राजे कभी कभी महराजे कोई फर्क नहीं
अखबारों की रँगी सुर्खियाँ बड़बोलों की चाल
सूरज सोया गोदामों में ठहरी काली रात
झूठी कसमें झूठे वादे कोई फर्क नहीं

लोक संस्कृति का ही अभिन्न अंग हैं हमारे लोकगीत यानी सोहर, सरिया, ब्याह, कजरी, लावनी, टप्पा आदि और उन्हीं से उपजे ठुमरी, दादरा, कव्वाली जैसे अर्द्धशास्त्रीय गायन। नवगीत ने लय-छंद के धरातल पर इनको साधा और इस तरह लय की अनुपमेय आवृत्तियाँ प्रस्तुत कीं। पारंपरिक छंद-पदगीत से अलग हट कर नवगीत ने लय की अनूठी भंगिमाओं का अनुसंधान किया पारंपरिक छंदों यथा छप्पय, सवैया, सोरठा आदि के टुकड़ों को नये रूपाकारों में ढालने का काम भी नवगीत ने बखूबी किया। प्रयोगधर्मी काव्य विधा के रूप में इस दृष्टि से भी नवगीत की उपलब्धियाँ महती रही हैं। छोटी लयों का अनुसंधान और आविष्कार नवगीत की विशिष्टता रही है। इधर के नवगीतों में गजल की छोटी बहरों का भी बड़ा ही सफल उपयोग हुआ है।

वर्तमान कालखंड में वैश्विक और महानगरीय आतंक के माहौल में नवगीत की ये चिंताएँ कितनी मौज्द हैं, कहने की आवश्यकता नहीं। हम आज सभ्यता एवं संस्कृति की सीमांत रेखा पर खड़े हैं। लोक संस्कृति की जिज्ञासाएँ और आस्थाएँ ही हमारे पूरी तरह आशयमुक्त, अनर्गल और बेहूदा होते सामाजिक माहौल को एक बार फिर जीवंत और जीवनदायी बना सकती है। यह चिन्तन आज के नवगीत का मुख्य चिन्तन है। नवगीत किंवा समूची कविता का यही एकमात्र प्रयोजन होना भी चाहिए। आज कविता की प्रासंगिकता लोक संस्कृति को पुनर्जीवित करने और उसे समाज के सार्थक बदलाव का माध्यम बनाने में ही निहित है। आज का नवगीत इस दृष्टि से निरंतर जागरूक है। यह एक स्वस्थ और उत्साहप्रद स्थिति है।

अंग्रेजी में संस्कृति के लिये 'कल्चर' शब्द प्रयोग किया जाता है, जो लैटिन भाषा के 'कल्ट या कल्टस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है, जोतना,

विकसित करना या परिष्कृत करना और पूजा करना। संक्षेप में, किसी वस्तु को यहाँ तक संस्कारित और परिष्कृत करना कि इसका अंतिम उत्पाद हमारी प्रशंसा और सम्मान प्राप्त कर सके। यह ठीक उसी तरह है जैसे संस्कृत भाषा का शब्द 'संस्कृति'।

संस्कृति का शब्दार्थ है - उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। यह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, नवीन अनुसन्धान और आविष्कार, जिससे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सभ्य बनता है। सभ्यता संस्कृति का अंग है। सभ्यता (Civilization) से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है, जबकि संस्कृति (Culture) से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह भोजन से ही नहीं जीता, शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु इसके बावजूद मन और आत्मा तो अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। सौन्दर्य की खोज करते हुए वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र और वास्तु आदि अनेक कलाओं को उन्नत करता है। सुखपूर्वक निवास के लिए सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती है। इनमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।

भारत के आदिवासी स्वयं की पहचान और संस्कृति को बचाने के लिए, भिन्न धर्म बनाने लिए भारत शासन से आधिकारिक मान्यता चाहते हैं।

संस्कृति की अवधारणा

संस्कृति जीवन की विधि है। जो भोजन हम खाते हैं, जो कपड़े पहनते हैं, जो भाषा बोलते हैं और जिस भगवान की पूजा करते हैं, ये सभी सभ्यता कहलाते हैं, तथापि इनसे संस्कृति भी सूचित होती है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृति उस विधि का प्रतीक है जिसके आधार पर हम सोचते

हैं और कार्य करते हैं। इसमें वे अमूर्त/अभौतिक भाव और विचार भी सम्मिलित हैं, जो हमने एक परिवार और समाज के सदस्य होने के नाते उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं। एक सामाज वर्ग के सदस्य के रूप में मानवों की सभी उपलब्धियाँ उसकी संस्कृति से प्रेरित कही जा सकती हैं। कला, संगीत, साहित्य, वास्तुविज्ञान, शिल्पकला, दर्शन, धर्म और विज्ञान सभी संस्कृति के प्रकट पक्ष हैं। तथापि संस्कृति में रीति-रिवाज, परम्पराएँ, पर्व, जीने के तरीके और जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यक्ति विशेष का अपना दृष्टिकोण भी सम्मिलित है।

इस प्रकार संस्कृति मानव जनित मानसिक पर्यावरण से सम्बंध रखती है जिसमें सभी अभौतिक उत्पाद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान किये जाते हैं। समाज-वैज्ञानिकों में एक सामान्य सहमति है कि संस्कृति में मनुष्यों द्वारा प्राप्त सभी आन्तरिक और बाह्य व्यवहारों के तरीके समाहित हैं। ये चिह्नों द्वारा भी स्थानान्तरित किए जा सकते हैं, जिनमें मानव समूहों की विशिष्ट उपलब्धियाँ भी समाहित हैं। इन्हें शिल्प कलाकृतियों द्वारा मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। वास्तुतः, संस्कृति का मूल केन्द्र बिन्दु उन सूक्ष्म विचारों में निहित है, जो एक समूह में ऐतिहासिक रूप से उनसे सम्बद्ध मूल्यों सहित विवेचित होते रहे हैं। संस्कृति किसी समाज के वे सूक्ष्म संस्कार हैं, जिनके माध्यम से लोग परस्पर सम्प्रेषण करते हैं, विचार करते हैं और जीवन के विषय में अपनी अभिवृत्तियों और ज्ञान को दिशा देते हैं।

संस्कृति हमारे जीने और सोचने की विधि में हमारी अन्तःस्थ प्रकृति की अभिव्यक्ति है। यह हमारे साहित्य में, धार्मिक कार्यों में, मनोरंजन और आनन्द प्राप्त करने के तरीकों में भी देखी जा सकती है। संस्कृति के दो भिन्न उप-विभाग कहे जा सकते हैं- भौतिक और अभौतिक। भौतिक संस्कृति उन विषयों से जुड़ी है, जो हमारी सभ्यता कहते हैं, और हमारे जीवन के भौतिक पक्षों से सम्बद्ध होते हैं, जैसे हमारी वेश-भूषा, भोजन, घरेलू सामान आदि। अभौतिक संस्कृति का सम्बध विचारों, आदर्शों, भावनाओं और विश्वासों से है।

संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज तथा एक देश से दूसरे देश में बदलती रहती है। इसका विकास एक सामाजिक अथवा राष्ट्रीय संदर्भ में होने वाली ऐतिहासिक एवं ज्ञान-सम्बंधी प्रक्रिया व प्रगति पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए, हमारे अभिवादन की विधियों में, हमारे वस्त्रों में, खाने की आदतों में, पारिवारिक सम्बन्धों में, सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों और मान्यताओं में

पश्चम से भिन्नता है। सच कहें तो, किसी भी देश के लोग अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं के द्वारा ही पहचाने जाते हैं।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द प्रायः पर्याय के रूप में प्रयुक्त कर दिये जाते हैं। फिर भी दोनों में मौलिक भिन्नता है, और दोनों के अर्थ अलग-अलग हैं। संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज में निहित संस्कारों से है, और उसका निवास उसके मानस में होता है। दूसरी ओर, सभ्यता का क्षेत्र व्यक्ति और समाज के बाह्य स्वरूप से है। 'सभ्य' का शाब्दिक अर्थ है, 'जो सभा में सम्मिलित होने योग्य हो'। इसलिए, सभ्यता ऐसे सभ्य व्यक्ति और समाज के सामूहिक स्वरूप को आकार देती है। सभ्यता को अंग्रेजी में 'सिविलाइजेशन' कहते हैं, और कल्चर से उसका अन्तर स्पष्ट ही है। संस्कृति और सभ्यता में भी वही भेद है।

प्रारम्भ में मनुष्य आँधी-पानी, सर्दी-गर्मी सब कुछ सहता हुआ जंगलों में रहता था, शनैः-शनैः उसने इन प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा के लिए पहले गुफाओं और फिर क्रमशः लकड़ी, ईंट या पत्थर के मकानों की शरण ली। अब वह लोहे और सीमेन्ट की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं का निर्माण करने लगा है। प्राचीन काल में यातायात का साधन सिर्फ मानव के दो पैर ही थे। फिर उसने घोड़े, ऊँट, हाथी, रथ और बहली का आश्रय लिया। अब मोटर और रेलगाड़ी के द्वारा थोड़े समय में बहुत लम्बे फासले तय करता है, हवाई जहाज द्वारा आकाश में भी उड़ने लगा है। पहले मनुष्य जंगल के कन्द, मूल और फल तथा आखेट से अपना निर्वाह करता था। बाद में उसने पशु-पालन और कृषि के आविष्कार द्वारा आजीविका के साधनों में उन्नति की। पहले वह अपने सब कार्यों को शारीरिक शक्ति से करता था। पीछे उसने पशुओं को पालतू बनाकर और सधाकर उनकी शक्ति का हल, गाड़ी आदि में उपयोग करना सीखा। अन्त में उसने हवा पानी, वाष्प, बिजली और अणु की भौतिक शक्तियों को वश में करके ऐसी मशीनें बनाई, जिनसे उसके भौतिक जीवन में काया-पलट हो गई। मनुष्य की यह सारी प्रगति सभ्यता कहलाती है।

'सभ्यता' का अर्थ है जीने के बेहतर तरीके और कभी-कभी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने समक्ष प्रकृति को भी झुका देना। इसके अन्तर्गत समाजों को राजनैतिक रूप से सुपरिभाषित वर्गों में संगठित करना भी सम्मिलित है, जो भोजन, वस्त्र, संप्रेषण आदि के विषय में जीवन स्तर को

सुधारने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रकार कुछ वर्ग अपने आप को अधिक सभ्य समझते हैं, और दूसरों को हेय दृष्टि से देखते हैं। कुछ वर्गों की इस मनोवृत्ति ने कई बार संघर्षों को भी जन्म दिया है जिनका परिणाम मनुष्य के विनाशकारी विध्वंस के रूप में हुआ है।

इसके विपरीत, संस्कृति आन्तरिक अनुभूति से सम्बद्ध है जिसमें मन और हृदय की पवित्रता निहित है। इसमें कला, विज्ञान, संगीत और नृत्य और मानव जीवन की उच्चतर उपलब्धियाँ सम्मिहित हैं जिन्हें 'सांस्कृतिक गतिविधियाँ' कहा जाता है। एक व्यक्ति जो निर्धन है, सस्ते वस्त्र पहने है, वह असभ्य तो कहा जा सकता है, परन्तु वह सबसे अधिक सुसंस्कृत व्यक्ति भी कहा जा सकता है। एक व्यक्ति जिसके पास बहुत धन है वह सभ्य तो हो सकता है पर आवश्यक नहीं कि वह सुसंस्कृत भी हो। अत: जब हम संस्कृति के विषय में विचार करते हैं तो हमें यह समझना चाहिए कि यह सभ्यता से अलग है। संस्कृति मानव के अन्तर्मन का उच्चतम स्तर है। मानव केवल शरीरमात्र नहीं हैं। वे तीन स्तरों पर जीते हैं और व्यवहार करते हैं - भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक, जबकि सामाजिक और राजनैतिक रूप से जीवन जीने के उत्तरोत्तर उत्तम तरीकों को तथा चारों ओर की प्रकृति का बेहतर उपयोग 'सभ्यता' कहा जा सकता है, परन्तु सुसंस्कृत होने के लिए यह पर्याप्त नहीं है। जब एक व्यक्ति की बुद्धि और अन्तरात्मा के गहन स्तरों की अभिव्यक्ति होती है तब हम उसे 'संस्कृत' कह सकते हैं।

संस्कृति और विरासत

सांस्कृतिक विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। हमारे पूर्वजों ने बहुत सी बातें अपने पुरखों से सीखी है। समय के साथ उन्होंने अपने अनुभवों से उसमें और वृद्धि की। जो अनावश्यक था, उसको उन्होंने छोड़ दिया। हमने भी अपने पूर्वजों से बहुत कुछ सीखा। जैसे-जैसे समय बीतता है, हम उनमें नए विचार, नई भावनाएँ जोड़ते चले जाते हैं और इसी प्रकार जो हम उपयोगी नहीं समझते उसे छोड़ते जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरिक होती जाती है। जो संस्कृति हम अपने पूर्वजों से प्राप्त करते हैं उसे सांस्कृतिक विरासत कहते हैं। यह विरासत कई स्तरों पर विद्यमान होती है। मानवता ने सम्पूर्ण रूप में जिस संस्कृति को विरासत के रूप में अपनाया उसे 'मानवता की विरासत' कहते हैं। एक राष्ट्र भी संस्कृति को विरासत के रूप में

प्राप्त करता है जिसे 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत' कहते हैं। सांस्कृतिक विरासत में वे सभी पक्ष या मूल्य सम्मिलित हैं, जो मनुष्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी अपने पूर्वजों से प्राप्त हुए हैं। वे मूल्य पूजे जाते हैं, संरक्षित किए जाते हैं और अटूट निरन्तरता से सुरक्षित रखे जाते हैं और आने वाली पीढ़ियाँ इस पर गर्व करती हैं।

विरासत के संप्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण सहायक सिद्ध होंगे। ताजमहल, स्वामी नारायण मंदिर (गांधी नगर और दिल्ली), आगरे का लाल किला, दिल्ली की कुतुब मीनार, मैसूर महल, दिलवाड़े का जैन मंदिर (राजस्थान), निजामुद्दीन-औलिया की दरगाह, अमृतसर का स्वर्ण मंदिर। दिल्ली का शीशगंज गुरुद्वारा, सांची स्तूप, गोआ में क्रिश्चियन चर्च, इंडिया गेट आदि हमारी विरासत के महत्त्वपूर्ण स्थान हैं और ये किसी भी प्रकार संरक्षित किये जाने चाहिए।

वास्तु संबंधित इन रचनाओं, इमारतों, शिल्पकृतियों के अलावा बौद्धिक उपलब्धियाँ, दर्शन, ज्ञान के ग्रन्थ, वैज्ञानिक आविष्कार और खोज भी विरासत का हिस्सा है। भारतीय संदर्भ में गणित, खगोल विद्या और ज्योतिष के क्षेत्र में बौधायन, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य का योगदान, भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में कणाद और वराहमिहिर का, रसायनशास्त्र के क्षेत्र में नागार्जुन, औषधि के क्षेत्र में सुश्रुत और चरक, योग के क्षेत्र में पतंजलि हमारी भारतीय सांस्कृतिक विरासत के प्रगाढ़ खजाने हैं। संस्कृति परिवर्तनशील है, लेकिन हमारी विरासत परिवर्तनील नहीं है।

संस्कृति की सामान्य विशेषतायें

1- **संस्कृति सीखी जाती है और प्राप्त की जाती है–** मानव के द्वारा संस्कृति को प्राप्त किया जाता है इस अर्थ में कि कुछ निश्चित व्यवहार हैं, जो जन्म से या अनुवांशिकता से प्राप्त होते हैं, व्यक्ति कुछ गुण अपने माता-पिता से प्राप्त करता है, लेकिन सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों को पूर्वजों से प्राप्त नहीं करता है। वे पारिवारिक सदस्यों से सीखे जाते हैं, इन्हें वे समूह से और समाज से जिसमें वे रहते हैं उनसे सीखते हैं। यह स्पष्ट है कि मानव की संस्कृति शारीरिक और सामाजिक वातावरण से प्रभावित होती है। जिनके माध्यम से वे कार्य करते हैं।

2- **संस्कृति लोगों के समूह द्वारा बाँटी जाती है**- एक सोच या विचार या कार्य को संस्कृति कहा जाता है यदि यह लोगों के समूह के द्वारा बाँटा और माना जाता या अभ्यास में लाया जाता है।

3- संस्कृति संचयी होती है- संस्कृति में शामिल विभिन्न ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित किया जा सकता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, ज्यादा से ज्यादा ज्ञान उस विशिष्ट संस्कृति में जुड़ता चला जाता है, जो जीवन में परेशानियों के समाधान के रूप में कार्य करता है, पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है। यह चक्र बदलते समय के साथ एक विशिष्ट संस्कृति के रूप में बना रहता है।

4- संस्कृति परिवर्तनशील होती है- ज्ञान, विचार और परम्परायें नयी संस्कृति के साथ अद्यतन होकर जुड़ते जाते हैं। समय के बीतने के साथ ही किसी विशिष्ट संस्कृति में सांस्कृतिक परिवर्तन संभव होते जाते हैं।

5- संस्कृति गतिशील होती है- कोई भी संस्कृति स्थिर दशा में या स्थायी नहीं होती है। जैसे समय बीतता है संस्कृति निरंतर बदलती है और उसमें नये विचार और नये कौशल जुड़ते चले जाते हैं और पुराने तरीकों में परिवर्तन होता जाता है। यह संस्कृति की विशेषता है, जो संस्कृति की संचयी प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है।

6- संस्कृति हमें अनेक प्रकार के स्वीकृति व्यवहारों के तरीके प्रदान करती है- यह बताती है कि कैसे एक कार्य को संपादित किया जाना चाहिये, कैसे एक व्यक्ति को समुचित व्यवहार करना चाहिए।

7- संस्कृति भिन्न होती है- यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न पारस्परिक भाग एक-दूसरे पर आश्रित हैं। यद्यपि ये भाग अलग होते हैं, वे संस्कृति को पूर्ण रूप प्रदान करने में एक दूसरे पर आश्रित होते हैं।

8- संस्कृति अक्सर वैचारिक होती है- एक व्यक्ति से उन विचारों का पालन करने की आशा की जाती है जिससे प्राय: यह एक आदर्श तरीका प्रस्तुत करती है जिससे उसी संस्कृति के अन्य लोगों से सामाजिक स्वीकृति प्राप्त की जा सके।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारत की संस्कृति आदि काल से ही अपने परम्परागत अस्तित्त्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। इसकी उदारता तथा समन्यवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किन्तु अपने अस्तित्त्व के मूल को सुरक्षित रखा है।

तभी तो पाश्चात्य विद्वान् अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. प्राचीनता - भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। मध्य प्रदेश के भीमबेटका में पाये गये शैलचित्र, नर्मदा घाटी में की गई खुदाई तथा कुछ अन्य नृवंशीय एवं पुरातत्त्वीय प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारत भूमि आदि मानव की प्राचीनतम कर्मभूमि रही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के विवरणों से भी प्रमाणित होता है कि आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग में एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। इसी प्रकार वेदों में परिलक्षित भारतीय संस्कृति न केवल प्राचीनता का प्रमाण है, अपितु वह भारतीय अध्यात्म और चिन्तन की भी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर भारतीय संस्कृति से रोम और यूनानी संस्कृति को प्राचीन तथा मिस्र, असीरिया एवं बेबीलोनिया जैसी संस्कृतियों के समकालीन माना गया है।

2. निरन्तरता - भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि हजारों वर्षों के बाद भी यह संस्कृति आज भी अपने मूल स्वरूप में जीवित है, जबकि मिस्र, असीरिया, यूनान और रोम की संस्कृतियों अपने मूल स्वरूप को लगभग विस्मृत कर चुकी हैं। भारत में नदियों, वट, पीपल जैसे वृक्षों, सूर्य तथा अन्य प्राकृतिक देवी - देवताओं की पूजा अर्चना का क्रम शताब्दियों से चला आ रहा है। देवताओं की मान्यता, हवन और पूजा-पाठ की पद्धतियों की निरन्तरता भी आज तक अप्रभावित रही हैं। वेदों और वैदिक धर्म में करोड़ों भारतीयों की आस्था और विश्वास आज भी उतना ही है, जितना हजारों वर्ष पूर्व था। गीता और उपनिषदों के सन्देश हजारों साल से हमारी प्रेरणा और कर्म का आधार रहे हैं। किंचित परिवर्तनों के बावजूद भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों, जीवन मूल्यों और वचन पद्धति में एक ऐसी निरन्तरता रही है, कि आज भी करोड़ों भारतीय स्वयं को उन मूल्यों एवं चिन्तन प्रणाली से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं और इससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

3. लचीलापन एवं सहिष्णुता - भारतीय संस्कृति की सहिष्णु प्रकृति ने उसे दीर्घ आयु और स्थायित्व प्रदान किया है। संसार की किसी भी संस्कृति में शायद ही इतनी सहनशीलता हो, जितनी भारतीय संस्कृति में पाई जाती है। भारतीय हिन्दू किसी देवी - देवता की आराधना करें या न करें, पूजा-हवन करें

या न करें, आदि स्वतंत्रताओं पर धर्म या संस्कृति के नाम पर कभी कोई बन्धन नहीं लगाये गए। इसीलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक हिन्दू धर्म को धर्म न कहकर कुछ मूल्यों पर आधारित एक जीवन-पद्धति की संज्ञा दी गई और हिन्दू का अभिप्राय किसी धर्म विशेष के अनुयायी से न लगाकर भारतीय से लगाया गया। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित हुई तब किसी न किसी महापुरुष ने इसे गतिशीलता प्रदान कर इसकी सहिष्णुता को एक नई आभा से मंडित कर दिया। इस दृष्टि से प्राचीनकाल में बुद्ध और महावीर के द्वारा, मध्यकाल में शंकराचार्य, कबीर, गुरु नानक और चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से तथा आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा ज्योतिबा फुले के द्वारा किये गए प्रयास इस संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन गए।

4. ग्रहणशीलता - भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण उसमें एक ग्रहणशीलता प्रवृत्ति को विकसित होने का अवसर मिला। वस्तुतः जिस संस्कृति में लोकतन्त्र एवं स्थायित्व के आधार व्यापक हों, उस संस्कृति में ग्रहणशीलता की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न हो जाती है। हमारी संस्कृति में यहाँ के मूल निवासियों ने समन्वय की प्रक्रिया के साथ ही बाहर से आने वाले शक, हूण, यूनानी एवं कुषाण जैसी प्रजातियों के लोग भी घुलमिल कर अपनी पहचान खो बैठे।

भारत में इस्लामी संस्कृति का आगमन भी अरबों, तुर्कों और मुगलों के माध्यम से हुआ। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति का पृथक् अस्तित्त्व बना रहा और नवागत संस्कृतियों से कुछ अच्छी बातें ग्रहण करने में भारतीय संस्कृति ने संकोच नहीं किया। ठीक यही स्थिति यूरोपीय जातियों के आने तथा ब्रिटिश साम्राज्य के कारण भारत में विकसित हुई ईसाई संस्कृति पर भी लागू होती है। यद्यपि ये संस्कृतियाँ अब भारतीय संस्कृतियों का अभिन्न अंग है, तथापि 'भारतीय इस्लाम' एवं 'भारतीय ईसाई' संस्कृतियों का स्वरूप विश्व के अन्य इस्लामी और ईसाई धर्मावलम्बी देशों से कुछ भिन्न है। इस भिन्नता का मूलभूत कारण यह है कि भारत के अधिकांश मुसलमान और ईसाई मूलतः भारत भूमि के ही निवासी हैं। सम्भवतः इसीलिए उनके सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक आचरण में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया और भारतीयता ही उनकी पहचान बन गई।

5. आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वय - भारतीय संस्कृति में आश्रम - व्यवस्था के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे चार पुरुषार्थों का

विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः इन पुरुषार्थों ने ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अदभुत समन्वय कर दिया। हमारी संस्कृति में जीवन के ऐहिक और पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बद्ध किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों और जीवन प्रणाली को कहते हैं, जिससे मानव जाति परमात्मा प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना लौकिक जीवन सुखी बना सके तथा मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा शान्ति का अनुभव कर सके। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है, यह अमरता मोक्ष से जुड़ी हुई है और यह मोक्ष पाने के लिए अर्थ और काम के पुरुषार्थ करना भी जरूरी है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक सन्देश एवं अर्थ और काम की भौतिक अनिवार्यता परस्पर सम्बद्ध है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के इस समन्वय में भारतीय संस्कृति की वह विशिष्ट अवधारणा परिलक्षित होती है, जो मनुष्य के इस लोक और परलोक को सुखी बनाने के लिए भारतीय मनीषियों ने निर्मित की थी। सुखी मानव-जीवन के लिए ऐसी चिन्ता विश्व की अन्य संस्कृतियाँ नहीं करतीं। साहित्य, संगीत और कला की सम्पूर्ण विधाओं के माध्यम से भी भारतीय संस्कृति के इस आध्यात्मिक एवं भौतिक समन्वय को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

6. अनेकता में एकता - भौगोलिक दृष्टि से भारत विविधताओं का देश है, फिर भी सांस्कृतिक रूप से एक इकाई के रूप में इसका अस्तित्त्व प्राचीनकाल से बना हुआ है। इस विशाल देश में उत्तर का पर्वतीय भू-भाग, जिसकी सीमा पूर्व में ब्रह्मपुत्र और पश्चिम में सिन्धु नदियों तक विस्तृत है। इसके साथ ही गंगा, यमुना, सतलुज की उपजाऊ कृषि भूमि, विन्ध्य और दक्षिण का वनों से आच्छादित पठारी भू-भाग, पश्चिम में थार का रेगिस्तान, दक्षिण का तटीय प्रदेश तथा पूर्व में असम और मेघालय का अतिवृष्टि का सुरम्य क्षेत्र सम्मिलित है। इस भौगोलिक विभिन्नता के अतिरिक्त इस देश में आर्थिक और सामाजिक भिन्नता भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुतः इन भिन्नताओं के कारण ही भारत में अनेक सांस्कृतिक उपधाराएँ विकसित होकर पल्लवित और पुष्पित हुई हैं।

अनेक विभिन्नताओं के बावजूद भी भारत की पृथक् सांस्कृतिक सत्ता रही है। हिमालय सम्पूर्ण देश के गौरव का प्रतीक रहा है, तो गंगा - यमुना और नर्मदा जैसी नदियों की स्तुति यहाँ के लोग प्राचीनकाल से करते आ रहे हैं। राम, कृष्ण और शिव की आराधना यहाँ सदियों से की जाती रही है। भारत की सभी भाषाओं

में इन देवताओं पर आधारित साहित्य का सृजन हुआ है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में जन्म, विवाह और मृत्यु के संस्कार एक समान प्रचलित हैं। विभिन्न रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और तीज - त्यौहारों में भी समानता है। भाषाओं की विविधता अवश्य है फिर भी संगीत, नृत्य और नाट्य के मौलिक स्वरूपों में आश्चर्यजनक समानता है। संगीत के सात स्वर और नृत्य के त्रिताल सम्पूर्ण भारत में समान रूप से प्रचलित हैं। भारत अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और पृथक् आस्थाओं एवं विश्वासों का महादेश है, तथापि इसका सांस्कृतिक समुच्चय और अनेकता में एकता का स्वरूप संसार के अन्य देशों के लिए विस्मय का विषय रहा है।

मानव जीवन में संस्कृति का महत्त्व

संस्कृति जीवन के निकट से जुड़ी है। यह कोई बाह्य वस्तु नहीं है और न ही कोई आभूषण है जिसे मनुष्य प्रयोग कर सकें। यह केवल रंगों का स्पर्श मात्र भी नहीं है। यह वह गुण है, जो हमें मनुष्य बनाता है। संस्कृति के बिना मनुष्य ही नहीं रहेंगे। संस्कृति परम्पराओं से, विश्वासों से, जीवन की शैली से, आध्यात्मिक पक्ष से, भौतिक पक्ष से निरन्तर जुड़ी है। यह हमें जीवन का अर्थ, जीवन जीने का तरीका सिखाती है। मानव ही संस्कृति का निर्माता है और साथ ही संस्कृति मानव को मानव बनाती है।

संस्कृति का एक मौलिक तत्त्व है, धार्मिक विश्वास और उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति। हमें धार्मिक पहचान का सम्मान करना चाहिए, साथ ही सामयिक प्रयत्नों से भी परिचित होना चाहिए जिनसे अन्तःधार्मिक विश्वासों की बातचीत हो सके, जिन्हें प्रायः 'अन्तः सांस्कृतिक वार्तालाप' कहा जाता है। विश्व जैसे-जैसे जुड़ता चला जा रहा है, हम अधिक से अधिक वैश्विक हो रहे हैं और अधिक व्यापक वैश्विक स्तर पर जी रहे हैं। हम यह नहीं सोच सकते कि जीने का एक ही तरीका होता है और वही सत्य मार्ग है। सह-अस्तित्त्व की आवश्यकता ने विभिन्न संस्कृतियों और विश्वासों के सह-अस्तित्त्व को भी आवश्यक बना दिया है। इसलिए इससे पहले कि हम इस प्रकार की कोई गलती करें, अच्छा होगा कि हम अन्य संस्कृतियों को भी जानें और साथ ही अपनी संस्कृति को भी भली प्रकार समझें। हम दूसरी संस्कृतियों के विषय में कैसे चर्चा कर सकते हैं जब तक हम अपनी संस्कृति के मूल्यों को भी भली प्रकार न समझ लें।

सत्य, शिव और सुन्दर ये तीन शाश्वत मूल्य हैं, जो संस्कृति से निकट से जुड़े हैं। यह संस्कृति ही है, जो हमें दर्शन और धर्म के माध्यम से सत्य के निकट लाती है। यह हमारे जीवन में कलाओं के माध्यम से सौन्दर्य प्रदान करती है और सौन्दर्यनुभूतिपरक मानव बनाती है। यह संस्कृति ही है, जो हमें नैतिक मानव बनाती है और दूसरे मानवों के निकट सम्पर्क में लाती है और इसी के साथ हमें प्रेम, सहिष्णुता और शान्ति का पाठ पढ़ाती है।

संस्कृति का निर्माण

किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं, अपितु असंख्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भगीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पाई जाने वाली मूँगे की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूँगे के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गए। फिर नए कीड़ों ने घर बनाये, उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी अगली पीढ़ी ने भी यही किया और यह क्रम हजारों वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। आज उन सब मूगों के नन्हे-नन्हे घरों ने परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टानों का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है और उनके निर्माण में हजारों वर्ष लगते हैं। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की रचना भी इसी प्रकार हुई है।

सभ्यता, संस्कृति, समाज, देश-काल

संस्कृति सामाजिक अंत:क्रियाओं एवं सामाजिक व्यवहारों के उत्प्रेरक प्रतिमानों का समुच्चय है। इस समुच्चय में ज्ञान, विज्ञान, कला, आस्था, नैतिक मूल्य एवं प्रथाएँ समाविष्ट होती हैं। संस्कृति भौतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के उपयुक्त मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं और सम्यक् चेष्टाओं की समष्टिगत अभिव्यक्ति है। यह मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्माण, निर्देशन, नियमन और नियंत्रण करती है। अत: संस्कृति मनुष्य की जीवनपद्धति, वैचारिक दर्शन एवं सामाजिक

क्रियाकलाप में उसे समष्टिवादी दृष्टिकोण की अभिव्यंजना है। इसमें प्रतीकों द्वारा अर्जित तथा सप्रेषित मानव व्यवहारों के सुनिश्चित प्रतिमान संनिहित होते हैं। संस्कृति का अपरिहार्य अभ्यंतर कालक्रम में प्रादुर्भूत एवं संचित परंपरागत विचारों और तत्संबद्ध मूल्यों द्वारा निर्मित होता है। इसका एक पक्ष मानव व्यवहार के निर्धारण और दूसरा पक्ष कतिपय विधिविहित व्यवहारों की प्रामाणिकता तथा औचित्य प्रतिपादन से संबद्ध होता है। प्रत्येक संस्कृति में चयन क्षमता एवं वरणात्मकता के सामान्य सिद्धांतों का संनिवेश होता है, जिनके माध्यम से सांस्कृति आधेय के नाना रूप क्षेत्रों में मानव व्यवहार के प्रतिमान सामान्यीकरण द्वारा अवकरणीय होते हैं।

सांस्कृतिक मान, प्रथाओं के सामान्यीकृत एवं सुसंगठित समवाय के रूप में स्थिरता की ओर उन्मुख होते हैं, यद्यपि संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों में परिवर्तन की प्रक्रिया शाश्वत चलती रहती है। किसी अवय वविशेष में परिर्वन सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप स्वीकरण एवं अस्वीकरण का परिणाम होता है। सांस्कृतिक प्रतिमान स्वयं भी परिवर्तनशील होते हैं। समाज की परिस्थिति में परिवर्तन की शाश्वत प्रक्रिया प्रतिमानों को प्रभावित करती है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया सांस्कृतिक प्रतिमानों के परिवर्तन की प्रक्रिया है।

संस्कृति प्रकृति प्रदत्त नहीं होती। यह समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा अर्जित होती है। अत: संस्कृति उन संस्कारों से संबद्ध होती है, जो हमारी वंशपंरपरा तथा सामाजिक विरास्त के संरक्षण के साधन है। इनके माध्यम से सामाजिक व्यवहार की विशिष्टताओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में निगमन होता है। निगमन के इस नैरंतर्य में ही संस्कृति का अस्तित्त्व निहित होता है और इसकी संचयी प्रवृत्ति इसके विकास को गति प्रदान करती है, जिससे नवीन आदर्श जन्म लेते हैं। इन आदर्शों द्वारा बाह्य क्रियाओं और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का समानयन होता है तथा सामाजिक संरचना और वैयक्तिक जीवनपद्धति का व्यवस्थापन होता रहता है।

संस्कृति के दो पक्ष होते हैं–

(1) आधिभौतिक संस्कृति,

(2) भौतिक संस्कृति।

सामान्य अर्थ में आधिभौतिक संस्कृति को संस्कृति और भौतिक संस्कृति को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक दूसरे से भिन्न होते है। संस्कृति आभ्यंतर है, इसमें परंपरागत चिंतन, कलात्मक

अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं धार्मिक आस्था का समावेश होता है। सभ्यता बाह्य वस्तु है, जिसमें मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सम्मिलित होती हैं। संस्कृति हमारे सामजिक जीवन प्रवाह की उद्‌गम स्थली है और सभ्यता इस प्रवाह में सहायक उपकरण। संस्कृति साध्य है और सभ्यता साधन। संस्कृति सभ्यता की उपयोगिता के मूल्यांकन के लिए प्रतिमान उपस्थित करती है।

इन भिन्नताओं के होते हुए भी संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से अंत:संबद्ध हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। सांस्कृतिक मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव सभ्यता की प्रगति की दिशा और स्वरूप पर पड़ता है। इन मूल्यों के अनुरूप जो सभ्यता निर्मित होती है, वही समाज द्वारा गृहीत होती है। सभ्यता की नवीन उपलब्धियाँ भी व्यवहारों, हमारी मान्यताओं या दूसरे शब्दों में हमारी संस्कृति को प्रभावित करती रहती है। समन्वयन की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

संपर्क में आनेवाली भिन्न संस्कृतियाँ भी एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। भिन्न संस्कृतियों का संपर्क उनमें सहयोग अथवा असहयोग की प्रक्रिया की उद्‌भावना करता है। पर दोनों प्रक्रियाओं का लक्ष्य विषमता को समाप्त कर समता स्थापन ही होता है। सहयोग की स्थिति में व्यवस्थापन तथा आत्मसात्करण समता स्थापन के साधन होते हैं और असहयोग की स्थिति में प्रतिस्पर्धा, विरोध एवं संघर्ष की शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं और अंतत: सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति को समाप्त कर समता स्थापित करती है।

संस्कृति के भौतिक तथा आधिभौतिक पक्षों का विकास समानांतर नहीं होता। सभ्यता के विकास की गति संस्कृति के विकास की गति से तीव्र होती है। फलस्वरूप सभ्यता विकासक्रम में संस्कृति से आगे निकल जाती है। सभ्यता और संस्कृति के विकास का यह असंतुलन सामाजिक विघटन को जन्म देता है। अत: इस प्रकार प्रादुर्भूत संस्कृति विलबंना द्वारा समाज में उत्पन्न असंतुलन और अव्यवस्था के निराकरण हेतु आधिभौतिक संस्कृति में प्रयत्नपूर्वक सुधार आवश्यक हो जाता है। विश्लेषण, परीक्षण एवं मूल्यांकन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का नियमन मानव के भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युत्थान के अनुपम सहयोग प्रदान करता है।

संस्कृति यद्यपि किसी देश या काल विशेष की उपज नहीं होती, यह एक शाश्वत प्रक्रिया है, तथापि किसी क्षेत्र विशेष में किसी काल में इसका जो

स्वरूप प्रकट होता है उसे एक विशिष्ट नाम से अभिहित किया जाता है। यह अभिधा काल, दर्शन, क्षेत्र, समुदाय अथवा सत्ता से संबद्ध होती है। मध्ययुगीन संस्कृति, भौतिक संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति, हिंदू संस्कृति तथा मुगल संस्कृति आदि की संज्ञाएँ इसी आधार पर प्रदान की गई हैं। विशिष्ट अभिधान संस्कृति के विशिष्ट स्वरू पबोध के साथ इस तथ्य को उद्‌भासित करता है कि संस्कृति को विशेषण प्रदान करनेवाले कारक द्वारा संस्कृति का सहज स्वरूप अनिवार्यत: प्रभावित हुआ है।

8

लोक-साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना

लोक-साहित्य 'लोक' और 'साहित्य' दो शब्दों के मेल से बना है। साहित्य में वर्णित 'लोक' शब्द के अर्थ को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने बहुत ही सटीक शब्दों में व्याख्यायित किया है कि 'लोक' का अर्थ नगरों एवं गाँवों में फैली उस समूची जनता से है, जो परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन की अभ्यस्त होती है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। इसी मत की सम्पुष्टि करते हुए डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं कि लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।2

अत: यह स्पष्ट है कि लोक से तात्पर्य उस सामान्य जनता से है जिसके पास पुस्तकीय ज्ञान न होते हुए भी, अपनी संस्कृति को वाणी के द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवन्त रखने की क्षमता रखती है। अस्तु! लोक से ही संस्कृति की उपज होती है वही संस्कृति को आधार प्रदान करता है। लोक और संस्कृति का सम्बन्ध आधाराधेय का है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि लोक-साहित्य का जन्म भी लोकसंस्कृति से ही होता है। लोक-साहित्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव। लोक मानस की अभिव्यक्ति का माध्यम है वह

गेय रचना-साहित्य जिसमें लोक जीवन के अनुभूत चित्र अपने सरलतम नैसर्गिक रूप में मिलते हैं। लोक-साहित्य में लोकमानस का हृदय बोलता है। स्मृति के सहारे जीवित रहने वाला लोक-साहित्य अनेक कण्ठों से गुजरता हुआ बनता-बिगड़ता एक सर्वमान्य लोक-स्वीकृत, लोक-व्यवहृत रूप पा लेता है। अनेकों के मध्य से गुजरते हुए भी एकता की भावना से ओत-प्रोत लोक-साहित्य जन-जन को जोड़ने की क्षमता रखता है। लोक-साहित्य में व्यक्ति-विशेष की नहीं, लोक की छाप रहती है। चूँकि लोक-साहित्य लिपिबद्ध कम मौखिक अधिक रहता है, अतः साधारण जन-स्वभाव के अनुरूप उसकी भाषा भी शिष्ट साहित्यिक न होकर जन-मन की भाषा होती है। उसका शिल्प-विधान भी नैसर्गिक, निर्व्याज एवं निर्मुक्त होता है। प्राकृतिक आभा से दीप्त इसकी अनलंकृत शैली उस वन्य-कुसुम के समान है जिसे देखने-सुनने वाले भले ही कम हों पर उनकी सुरभि-सुगन्ध चहुँ ओर मदमाती है।

लोक-साहित्य के सन्दर्भ में जहाँ तक हरियाणा का सम्बन्ध है तो ध्यातव्य है कि उसमें हरियाणवी लोक-संस्कृति का प्रतिबिम्ब हू-ब-हू देखने को मिलता है। यहाँ के निवासियों का रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, तीज-त्यौहार, व्रत-उपवास, आस्था-विश्वास, सुख-दुःख सभी की अनगिनत छवियों का भावन हरियाणवी लोक-साहित्य के अन्तर्गत किया जा सकता है।

हरियाणवी संस्कृति ग्राम्य संस्कृति है। यहाँ के लोग मुख्यतः खेती पर निर्भर करते हैं। उनके जीवन का केन्द्र और धुरी सब कृषि पर ही टिका हुआ है। उपहास की दृष्टि से यहाँ की 'कल्चर' को 'एग्रीकल्चर' से जोड़ कर भी देखा जाता है। यही कारण है कि यहाँ का लोक-संसार हो या लोक-साहित्य सभी अत्यन्त सहज है, प्रकृत है। बनावट या कृत्रिमता का कहीं कोई नामोनिशान नहीं है। प्रकृति से घनिष्ठता रखने वाला हरियाणवी लोक-मन प्रकृति के हर कोमल-कठोर रूप का खुली बाँहों से स्वागत करता है। पर्वोत्यौहारों के प्रति जो उल्लास यहाँ के लोगों में दिखायी पड़ता है वह यहाँ के लोकगीतों में भी दिखायी पड़ता है। हरियाणा में 'तीज' का त्यौहार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। श्रावण मास में आने वाला 'तीज' का यह पर्व इसीलिये भी विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यह मुख्यतः स्त्रियों का त्यौहार है। हर विवाहिता स्त्री बेसब्री से इस त्यौहार का इन्तजार करती है कि उसका भाई उसे ससुराल से लिवाने के लिये आयेगा और मायके में वह सखी-सहेलियों के साथ सावन की फुहारों का आनन्द लेते हुए झूला झूलेंगी, गीत गायेंगी–

आया तीजा का त्योहार
आज मेरा बीरा आवैगा।
सामण मैं बादल छाये
सखियाँ नै झूले पाये
मैं कर लूँ मौज- बहार
आज मेरा बीरा आवैगा।

सावन की बरसती फुहारों का आनन्द इस लोकगीत में भी उठाया जा सकता है–

नानीं - नानीं बूँदियाँ
हे सावन का म्हारा झूलणा
एक झूला डाला मैंने
बाबल के राज में
नानीं नानीं बूँदिया मीया बरसता हे जी
हाँ जी काहे चारूँ दिसा पड़ेगी फुवार
हाँ जी काहे सामण आया सुगड सुहावणा
संग की सहेली मा मेरी झूल तीजी
हमनै झूलण का हे माँ मेरी चाव जी

होली का त्यौहार भी यहाँ बड़े चाव से मनाया जाता है। पूरा गाँव मिलकर होली खेलता है। क्या बूढ़ा - क्या जवान, क्या पुरुष - क्या स्त्री, क्या बाल - क्या वृद्ध सब होली के रंगों में सराबोर हो जाते हैं। ऐसा ही एक चित्ताकर्षी उदाहरण इस लोकगीत में द्रष्टव्य है–

फागण के दिन चार री सजनी
मध जोबण आया फागण मै
फागण बी आया जोबण मै
झाल उठै सै मेरे मन मै
जिसका बार न पार री सजनी
फागण के दिन चार।

एक और उदाहरण देखें–

होली खेल रहे शिवशंकर गौरा पार्वती के संग
गौरा पार्वती के संग माता पार्वती के संग
कुटी छोड़ शिवशंकर चल दिये लियो नदिया संग

गले में रुण्डों की माला, सर्प लिपट रहे अंग
होली खेल रहे शिवशंकर गौरा पार्वती के संग।

हरियाणा का अधिकतर लोक-साहित्य रागनी और सांगबद्ध है। कुछ ऐसे कालजयी रचनाकारों-गायकों पर एक दृष्टि अवलोकनीय है जिन्होंने हरियाणवी लोक-साहित्य को सांग एवं रागनीबद्ध करके हरियाणवी लोक-साहित्य को अमर बनाने का सराहनीय प्रयास किया है। कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ हरियाणवी लोक-साहित्यकारों पर एक दृष्टि अनिवार्य है–

पण्डित लखमी चन्द

आपका जन्म सोनीपत जिले के जाटीकलाँ नामक गाँव में एक सामान्य किसान परिवार के घर हुआ था। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण स्कूल न जा सके और घर पर ही रह कर घर के कामों में हाथ बँटाने लगे। पशु चराना उन्हें बहुत प्रिय था। पशु चराते - चराते बालक लखमी अपनी धुन में मस्त भजन, गीत गाता रहता। धीरे-धीरे लोग लखमी की गायन- प्रतिभा से प्रभावित होने लगे। बाद में उन्होंने संगीत की औपचारिक शिक्षा प्राप्त की तथा रागबद्ध रागनियाँ तथा साँग गाने लगे।

रागनी एक कौरवी लोकगीत विधा है और आज एक स्वतन्त्र लोकगीत विधा के रूप में स्थापित हो चुकी है। रागनी के माध्यम से जीवन के अनुभूत तथ्यों-सत्यों का वर्णन लखमीचन्द जी ने बखूबी किया है। जीवन की रेल के साथ तुलना करते हुए कितना अद्‌भुत-अनन्य साँगरूपक का प्रयोग इन्होंने अपनी इस रचना में किया है-

हो ग्या इंजन फेल चालण तै घण्टे बन्द घडी रहगी
छोड ड्राइवर चल्या गया टेशन पै रेल खड़ी रहगी
भर टी टी का भेष रेल मैं बैठ वे कुफिया काल गये
बन्द हो गी रफ्तार चालण तै, पुर्जे सारे हाल गये
पाँच ठगाँ नै जेब कतर ली, डूब - डूब धन माल गये।6

पण्डित माँगेराम

पण्डित माँगेराम पण्डित लखमी चन्द के प्रिय शिष्यों में से एक थे। साँग कला में निपुण वे एक प्रसिद्ध गायक थे। हरियाणवी लोक-साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर माने जाने वाले पण्डित माँगेराम की रागणियाँ पूरे हरियाणा में प्रसिद्ध हैं और खूब चाव से गायी जाती हैं। एक बानगी देखिये–

तेरा बड़ा भाई तेरे भरोसे कर ग्या
तनै बचन भरे थे, तू इसा तावला फिर ग्या
तेरा दिन की अलग छठी बैठी सूँ
मेरा हो ग्या कम तौल घटी बैठी सूँ
सब कार ब्योवहार तै दूर हटी बैठी सूँ
तनै धन चाहिये मैं लुटी - पिटी बैठी सूँ।

इन पंक्तियों में उस विवाहिता स्त्री का दारुण चित्र उपस्थित है जिसके पति की अकाल मृत्यु हो गयी है तथा समाज की रीति अनुसार अब उसे जीवन पति के भाई के साथ व्यतीत करना है। यह प्रथा शायद जमीन-जायदाद को बँटने न देने के लिये बनायी गयी थी।

कवि नर सिंह

कवि नर सिंह लोकप्रिय गायक थे, मिट्टी से जुड़े हुए नायक थे। इन्होंने अपनी रागणियों में किसान के जीवन की करुण गाथा का वर्णन इतने मार्मिक शब्दों में किया है कि आँखों से अश्रु बह निकलते हैं। एक छोटा-सा उदाहरण देखिये –

कातिक बदी अमावस थी
अर दिन था खास दिवाली का
आँख्याँ कै माँह आ गे घर देख जब हाली का
कितै बणै थी खीर, कितै हलवे की खुशबू ऊठ रही
हाली की बहू एक कूण मैं खडी बाजरा कूट रही
हाली नै ली खाट बिछा वा पैंत्या कानी तै टूट रही
भर कै हुक्का बैठ ग्या वो चिलम तलै तै फूट रही
सारे पड़ोसी बालकाँ खातर खील खिलौणे ल्याये थे
दो बालक बैठे हाली के उनकी ओड लखावै थे
बची रात की जली खीचडी घोल सीत मैं खावै थे।

मेहर सिंह

मेहर सिंह एक फौजी कवि थे। सन् 1944 ई. के युद्ध में शहीद हो जाने के कारण मेहर सिंह की रागणियों को एक विशेष लोकप्रियता प्राप्त है। सैनिक होने के नाते यह नितान्त स्वाभाविक ही है कि उनकी रागनियाँ युद्ध और सैन्य जीवन के अनुभवों से ओत-प्रोत है। सैनिक का जीवन केवल सैनिक के लिये

ही चुनौतियों से भरपूर नहीं होता वरन् उनके निकट के सगे सम्बन्धियों के लिये भी उतना ही चुनौतीपूर्ण होता है। सैनिक की पत्नी की भावनाओं के कुछ उदाहरण ध्यानीय हैं –

फौज मैं जाकै भूल ना जाइये तू अपनी प्रेम कौर नै
डर डर कै मर ज्याँगी मैं देख कै घटा घोट नै
हाँ शाम सवेरी मनै एकली नै खेत मैं जाणा हो
बदमास्याँ की टोली घुमै मुश्किल गात बचाणा हो
तेरी खातर रहूँगी जीवती जब तक पाणी - दाणा हो
नहीं मौत का कोई भरोसा कद हो ज्या माल बिराणा हो ।

जैमिनी हरियाणवी

आपका वास्तविक नाम देवकीनन्दन है, लेकिन हरियाणवी लोक जगत में आप जैमिनी हरियाणवी के नाम से विख्यात हैं। हास्य रस के सम्राट कहलाने वाले आप हरियाणवी लोक-साहित्य के अकेले ऐसे कवि है जिन्होंने अपनी हरियाणवी रचनाओं में इतना हास्य रंग भर दिया कि वे बेमिसाल बन गये–

ओ मेरी महबूबा, महबूबा, महबूबा
तू मन्नै ले डूब्बी मैं तन्नै ले डूब्बा
गोरी म्हारै गाम की चाल्ली छम छम
गलियारा भी काँप गया मर गये हम

कँवल हरियाणवी

हरियाणा के कैथल जिले में जन्मे श्री कृष्ण व्यास 'कँवल हरियाणवी' के नाम से विख्यात हैं। आप एक सेवामुक्त सैनिक हैं और शायद पहले ऐसे हरियाणवी रचनाकार हैं जिन्होंने गजल जैसी विधा को हरियाणवी में लिखने का दुस्साहस किया। कुछ-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

चाल - चलण के घटिया देखे बड़े बड़े बड़बोल्ले लोग ।
भारी भरकम दिक्खण आलै थे भीत्तर तै पोल्ले लोग ।।
जीवन भर तो खूब सताया करया मेरा अपमान
अरथी पै जिब लै कै चाल्लै बड़ा भला था बोल्ले लोग
चोट इतनी खाई सै मन्नै
दर्द की दुनिया बसाई सै मन्नै।

9

लोक-साहित्य : साहित्य के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

लोक-साहित्य की चर्चा से पूर्व लोक-साहित्य के अर्थ को समझना जरूरी है, "लोक" शब्द के संदर्भ में डॉ बच्चन सिंह लिखते हैं कि,'' लोक एक भौगोलिक शब्द है। इसे लेकर विविध लोकों की कल्पना की गई है। ऋग्वेद (3/53/21)में लोक जीव एवं जगत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे इतर वेदों में दिव्य और पार्थिव लोकों की कल्पना की गई है। उपनिषदों में दो लोक माने गए हैं - इहलोक और परलोक। निरुक्ति में तीन लोकों का उल्लेख है -पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। दूसरे शब्दों में इन्हें भूः , भुवः और स्वः कहते हैं। पौराणिक काल में सात लोकों और सात पातालों का उल्लेख मिलता है। चूँकि अब परलोक की कल्पना कल्पना मात्र रह गयी है, अतः लोक इहलोक के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लोक धर्म कहने से लोक का अर्थ जनसामान्य हो जाता है "(आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द - बच्चन सिंह, पृष्ठ संख्या -98)इसी तरह लोक-साहित्य का अर्थ हमें जनसामान्य का साहित्य समझना चाहिये।

लोक शब्द की प्राचीनता के संदर्भ में डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं कि, "'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकृ दर्शने' धातु से 'धग्यम' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ देखना होता है जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एकवचन का रूप 'लोकते' है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ 'देखने

वाला'। इस प्रकार वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाएगा।"

लोक-साहित्य में जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। डा. सत्येन्द्र के अनुसार- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।" साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोक-साहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है अतः जनसाहित्य (लोक-साहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोक-साहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है, जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती है। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अतः यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोक-साहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित रूप में सामने आए हैं।

सरलता, कोमलता, सहजता और लोक जीवन का जैसा परिमल,विमल प्रवाह हमें लोकगीतों व लोक-कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक-मानव का हृदय अपनी पूरी अनुभूतिमय सहजता से सामने आता है। लोक-साहित्य के अंतर्गत निहित संगीतात्मकता ऐसी मधुर होती है कि मानो प्रकृति स्वयं उन्हें गाती-गुनगुनाती और निर्मित करती है। लोक-साहित्य में निहित सौंदर्य का मूल्यांकन किसी सौंदर्य शास्त्र का मोहताज नहीं है अपितु यह सर्वथा अनुभूतिजन्य होता है। श्रुति एवं स्मृति ही वे माध्यम हैं जिनके सहारे लोक-साहित्य की परंपरा जीवित रहती है और आगे बढ़ती है।

लोक-साहित्य के अंतर्गत रचना अनेक कंठों से अनेक रूपों में बनते और बिगड़ते हुए एक विशिष्ट और सर्वमान्य रूप धारण कर लेती है, इस तरह लोक-साहित्य के अंतर्गत किसी विशिष्ट रचना की रचना प्रक्रिया समय और समाज के समानांतर चलते हुए एक लंबी सामाजिक जीवन प्रक्रिया का मान्य साहित्यिक रूप होता है। परंपरागत एवं सामूहिक प्रतिभाओं से निर्मित होने के कारण विद्वानों ने लोक-साहित्य को 'अपौरुषेय' की संज्ञा दी है। इसे इस तरह

भी समझा जा सकता है कि लोक-साहित्य के निर्माण या इसकी रचना प्रक्रिया में जो पौरुष है , वह पौरुष प्रकृति और समाज के ताने-बाने और इनके बीच के तादाम्य में निहित मानवीय चेतना का एक रूप है।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि आखिर लोक-साहित्य के अंतर्गत किन विषयों का समावेश होता है ? अथवा लोक-साहित्य जीवन से जुड़े किन संदर्भों को अपने अंतर्गत समाहित करता है ? अब यहाँ ध्यान देना होगा कि लोक-साहित्य अगर सामाजिक और साहित्यिक चेतना का रूप है तो इसमें मूल रूप से जीवन और प्रकृति से जुड़े अनुभवों का सार होगा जो लोक मंगल, लोक रक्षक लोक धर्म के भावों से भरा होगा। यह साहित्य जीवन की अनुभूतियों का सहज बयान होता है। ऋतुविद्या, स्वास्थ्यविज्ञान, कृषिविज्ञान, समाज,सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ , मिथक , धार्मिक और पौराणिक मान्यताएँ सभी कुछ इसके अंतर्गत समाहित होता है। जीवन की अनुभूतियों, मान्य सामाजिक नियमों एवं तत्संबंधी उपदेशात्मक बातों का बड़ा ही सहज बयान लोक गीतों या लोक गाथाओं में मिलता है।

साहित्य का समाजशास्त्र और इस साहित्यिक समाजशास्त्र का समाजशास्त्रीय अध्ययन हिन्दी साहित्य में एक नई संकल्पना रही है जिसे एक विधा के रूप में स्वीकार करने न करने का विवाद साहित्य अध्येताओं के लिए नया नहीं है। लोक-साहित्य के संदर्भ में इसका अवलोकन वस्तु स्थिति को समझने का संभवत: एक नया दृष्टिकोण है, जिसकी स्वीकार्यता/अस्वीकार्यता गंभीर साहित्यिक विश्लेषण,विवेचन और अनुसंधान का विषय है। लोक-साहित्य– साहित्य के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में, इस बात को स्पष्ट कर सकने में सहायक हो सकता है कि साहित्य का निश्चित रूप से एक समाजशास्त्र होता है। यह समाजशास्त्र मानव जीवन की सामाजिक प्रक्रिया एवं उसकी प्रकृतिगत सामंजस्यता के बीच निहित चेतना का परिचायक होता है।

10

लोक-साहित्य के अध्ययन की परंपरा एवं चुनौतियां

लोक-साहित्य के अध्ययन की परंपरा एवं चुनौतियों से विषय पर बात करने से पूर्व हमारे लिए यह जानना जरूरी होगा कि ज्ञान का आधार, विश्व के सम्बन्धित लोक समाजों में क्या रहा है लोक ज्ञान का विस्तार शास्त्रीय और आधुनिक विज्ञान के चिंतन में कहां तक महत्व रखता है? लोक का जीवनानुभव, बोध के साथ ज्ञान को जन्म देता है। ज्ञान के तीन आधारों की बात की जाती है-

1. लोकाधारित ज्ञान, 2. शास्त्र सम्मत ज्ञान, 3. विज्ञान आधारित ज्ञान। वर्तमान विकास के मॉडल में लोक आधारित ज्ञान का समावेशन कितना हो पाया है? यह लोकानुभव शास्त्रीय और आधुनिक विज्ञान के विकास का आधार तत्त्व है। इस रूप में जनजातीय लोक-साहित्य वैश्विक स्तर पर एथेनो मेडिसीन को अपने वाचिक रूप में सुरक्षित करते हुए निरंतर प्रवाहमान है।

विश्व स्तर पर जो भी साहित्य- इतिहास लेखन के प्रयास हुए हैं उनमें उदार/उग्र राष्ट्रवादी सोच, औपनिवशिकवादी मानसिकता और वर्गीय आधार पर लेखन हुआ है। लेकिन लोक- तीनों विचार-सारणियों से किसी नतीजे तक नहीं पहुंचा जा सकता।

लोक-साहित्य में इतिहास मिथक के रूप में प्रचलन में आती है। लोक-साहित्य म घटनाओं, तथ्यों और समय को देखने की दृष्टि, रेखीय-आधार या चक्रीय आधार पर लिखे गए साहित्य इतिहास लेखनी से भिन्न है। लोक-साहित्य वर्तलाकार दृष्टि से समय को देखता है। उदाहरण के लिए भारत के जनजातीय समाजों के वाचिक साहित्य में समय को देखने की दृष्टि चींटी के बिल के मानिन्द है। भारत के अंदमान निकोबार द्वीप समूह की प्राचीनतम भाषा 'बा' को बोलने वाली आखिरी महिला की मौत के साथ 65 हजार वर्ष पुरानी भाषिक, साहित्यिक परंपरा का अवसान हो गया। इस रूप में देखें तो जनजातीय लोक-साहित्य और भाषा के प्रति भारतीय समाज की उदासीनता ही प्रतिबिम्बित होती है।

सर्वप्रथम इस विषय पर बात करने से पर्व हमारे लिए यह जानना समीचीन होगा कि लोक-साहित्य के अध्ययन की परंपरा की शुरूआत कब से हुई और क्यों? इसके उदय के पीछे वे कौन से कारण थे जिन्होंने लोक-साहित्य के प्रसार को फैलने में मदद की? 'भारतीय लोक-साहित्य की रूपरेखा' की लेखिका डॉ. दुर्गा भागवत ने पश्चिमी विश्व में लोक-साहित्य का अध्ययन आलेख के अंतर्गत बताया है

(क) पश्चिम में लोक-साहित्य के अध्ययन का प्रारंभ-ट्यटॉनिक परम्परा, दंतकथाओं एवं सृष्टि संबंधी देवत्वशास्त्रीय संग्रह के रूप में (होमर) सामने आया।

(ख) 17 वीं एवं 18 वीं शतदी में सिद्धान्तों का निर्माण किया गया।

1. कल्पनावाद के प्रभाव स्वरूप विद्वान ट्यटॉनिक और पूर्व भाषा विषयक अनुसंधानों के लिए प्रेरित हुए।
2. ग्रिम बंधओं ने जर्मन भाषा में 'वोब्स कण्डे' शब्द का प्रयोग किया और परिणामत: डब्ल्यू, जे. थोम्स द्वारा 1846 में लोक-साहित्य के रूप में इसका अनुवाद किया गया। लोक-साहित्य के अध्ययन में ग्रिम बंधुओं के उदय के साथ लोक-साहित्य का भाषा वैज्ञानिक रूप प्रधानता में आ गया।
3. मैक्स मूलर पर पंचतंत्र के प्रथम यूरोपीय अनुवादक बैनफै का प्रभाव था। थियोडोर बैनफै (द साइन्स ऑफ माइथोलोजी) भारतीयतावादी सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। उनका मत था कि-भारत ही सभी देवकथाओं और नीति कथाओं का जन्म स्थान है। इस सिद्धांत के अन्य समर्थक थे-मैक्स मूलर,

एमेन्युअल कोसक्रिन, प्रो. रीज डेविडस एवं सर जार्ज कॉब्स। मैक्स तुलर ने तुलनात्मक देवशास्त्र और तु लनात्मक भाषा-विज्ञान के व्याख्याकार के रूप में भूमिका निभाई।

4. प्राकृतिक प्रतीकतावादी संप्रदाय की स्थापना रीक ने की। रीक का मत था कि-सारी देवकथाओं का मूल केंद्र सूर्य है। इस सिद्धान्त की आलोचना अमेरिका के मानवशास्त्री लोई ने की। लोई के अनुसार-केवल सूर्य-प्रतीकवाद ही सभी देव कथाओं की व्याख्या नहीं कर सकता अनेक स्थानीय देव कथाएँ स्थानीय प्रकृति के प्रतीकवाद का भी प्रयोग करती है।
5. अवतारवादी सिद्धांत के प्रतिपादक फ्रांसीसी विद्वान वेंनियर का मत था कि-देवकथा का जन्म ऐतिहासिक सत्य के अति कल्पना से मिलन के परिणाम स्वरूप होता है।
6. हेतुवाद सज्बन्धी सम्प्रदाय-सम्प्रदाय का संस्थापक था डेनहार्ट। उसके अनुसार -देवकथाएं सोद्देश्य कथाएं हैं। वे घटनाओं के कारणों को स्पष्ट करती हैं। प्रसिद्ध मानवशास्त्री रिवर्स ने इस सिद्धान्त की आलोचना की।

(ग) लोक-साहित्य के वास्तविक अध्ययन का सूत्रधार डार्विन सर फ्रेजर थे। इंग्लैंण्ड में 'लोक-साहित्य-समाज' (1878) की स्थापना हुई। विभिन्न देशों की लोक-कथाओं का संग्रह किया गया। लोक-साहित्य की परिभाषा, उसका निर्माण करने वाले तत्त्वों का अध्ययन वैज्ञानिक व्याख्या के साथ शुरू हुआ।

(घ) सामान्य प्रचलित जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध का दौर।

1. नुशास्त्रीय सम्प्रदाय-एण्ड्रयू लैंग इसके संस्थापक थे। इन्होंने पौराणिक काव्य संबंधी स्थितियों की व्याख्या विभिन्न देश एवं जनसमूहों के पुराण संबंधी सामान्य तत्त्वों को समझने के संदर्भ में की।

2. अति जीवन का सिद्धांत-इस सिद्धांत के प्रतिपादक टाइलोर थे। इनका मत है कि सभ्य मनुष्यों की कहानियां आदिकालीन अतिजीवन की हैं। लैंग ने इस सिद्धान्त को संवर्द्धित किया और इसे लोक-साहित्य में प्रयुक्त किया।

3. विभागवादी और विस्तारवादी संप्रदाय -इस सिद्धान्त के प्रतिपादक क्रोन और आनें थे। बाद में थॉम्सन ने इसे आगे बढ़ाया। इस सिद्धान्त का मत है कि-मूल रूप में एक कहानी है, जो कि विश्व भर में प्रस्तुत कहानियों के

मूलाधार के रूप में कार्य करती है, अध्ययन भौगोलिक ऐतिहासिक विधि द्वारा किया गया।

4. अमरीकन नृशास्त्रीय सम्प्रदाय-फ्रैंज बोज इस संप्रदाय के प्रतिपादक थे। इन्होंने कथाओं की अनेक रूपता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

5. मनोवैज्ञानिक संप्रदाय-फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त ने लोक-साहित्य के अध्ययन को प्रभावित किया। युंग ने लोक-कथाओं के मनोवैज्ञानिक पक्ष को समझने के लिए इस विधि का व्यवहार किया।

6. अधिकार संबंधी सप्रदाय-डॉ. मालीनाव्स्की इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं, संप्रदाय कथाओं के स्वतंत्र प्रादुर्भाव का प्रवर्तक है। संस्कृतियों के स्वतंत्र प्रादुर्भाव एवं स्वाभाविकता में विश्वास रखता है। समान संस्कृतियां एक दूसरे से स्वतंत्र हो सकने योग्य हैं। समान सामाजिक और प्राकृतिक दशाएं, समान रिवाजों और विचारों को उत्पन्न करती हैं।

पश्चिम में लोक-साहित्य के अध्ययन के चार चरण हम देख सकते हैं। प्रथम कालखंड में देवत्व कथाओं के संग्रह पर बल दिया गया। दूसरे कालखंड में दैवीय, भाषाशास्त्रीय और तुलनात्मक आधार को प्रश्रय मिला। तीसरे कालखण्ड में लोक-साहित्य के वैज्ञानिक विवेचन को प्राथमिकता मिलने लगी। चौथे कालखंड में मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, भाषाशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने लोक-साहित्य को स्थानीय जनसमूहों एवं समाजों की संस्कृति और उसके सामाजिक मनोभावों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया। अमेरिका और यूरोप महाद्वीप के देश इस क्षेत्र में आगे बढ़े।

(ड.) भारतीय परंपरा में लोक-साहित्य के अध्ययन की शुरूआत उपनिवेशवादी सजाओं द्वारा हुई। उपनिवेशवादी ताकतों का रूझान लोक-साहित्य के मर्म को पकड़ना नहीं था बल्कि प्रशासन तंत्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए स्थानीय भाषाएँ, समाज, संस्कृति, रीति-रिवाज और प्रथाओं का अध्ययन आवश्यक हो गया था। भारत में उपनिवेशवादी ताकतों ने तीन स्तरों पर इस कार्य को किया।

1. प्रशासन तंत्र द्वारा जिलेवार गजेटियर तैयार किये गए। इस क्रम में लोक-साहित्य का संग्रह सामने आया।
2. ईसाई मिशनरियों द्वारा अपने मत और धर्म के प्रचार के लिए पिछड़े हुए समाजों के लोक-साहित्य का संग्रह भी प्रकाश में आया।

3. भारतवर्ष को उपनिवेशवादी ताकतें पुरातत्त्व के लिए सबसे बड़ा अजायबघर मानती थीं। इस रूप में द आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल-1784, रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड1829, द जर्नल ऑफ इंडियन एटिकिरी1872, 'एनाल्स एंड एन्टोक्विटिस ऑफ राजस्थानश-1829 जैसे कई कार्य संस्थाओं और व्यत्तियों के सहयोग से सामने आए।

विलियम नार्मन ब्राउन ने 'हिंदू स्टोरिज इन अमेरिकन नीग्रो फोकलोर1920' में भारतीय संबंधों को अफ्रीका से जोड़ने का प्रयास किया। विलियम क्रूक ने अपनी पुस्तकों में उत्तरी भारत के लोक जीवन को अपनी सभी रंगीनियों के साथ प्रस्तुत किया। इनकी मह त्वपूर्ण पुस्तक है-'एन इंडियन घोस्ट स्टोरिज'।

भारत-प्रेमियों वुडरफ विल्सन, मैक्स मूलर ने भारतवर्ष के अवदान को स्वीकारा। इससे प्रभावित होकर भारतेंदु, बंकिमचंद्र, रविन्द्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त ने लोक-साहित्य के महत्व को समझने का प्रयास किया देवेन्द्र सत्यार्थी, डब्ल्यू. जी. आर्चर, मुल्क राज आनंद और वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोक-साहित्य के संबंध में शोधपरक आलेख लिखे। इसके अलावा इन लोगों ने लोक-साहित्य को कविता का प्रथम उन्मेष काल कहा।

विभिन्न संस्थाओं द्वारा लोक-साहित्य के अध्ययन को प्रकाश में लाने के लिए प्रयास शुरू हुए। भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर, भारतीय लोक संस्कृति संस्थान, बोरून्दा, कुरूलोक संस्थान, मेरठ इत्यादि संस्थानों ने लोक-साहित्य का संरक्षण, संवर्धन और परिरक्षण करने का कार्य किया।

भारत और पश्चिम में लोकाध्ययन अलग-अलग विषयानुशासनों की जरूरत का हिस्सा बनकर प्रकाश में आया। सर्वप्रथम नृतत्त्ववेत्ताओं ने आदिम समाज के अध्ययन के लिए लोक के अध्ययन की शुरूआत की, क्योंकि इससे उन्हें आदिम समाज में गोत्र जो नृजातीय इकाई का स्रोत माना गया है, उस पर प्रकाश डालने में सहुलियत हुई। समाजशास्त्रियों ने लोकाध्ययन-परिवार, विवाह-व्यवस्था, सामाजिक रिश्तेदारी एवं समाज के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए किया।

इतिहास वेत्ताओं ने पुरातात्विक अध्ययन के आधार के समानांतर लोकाध्ययन की शुरूआत की, जिससे लोक का इतिहास लिखा जा सके। इन सबके लिए लोक-साहित्य कच्ची सामग्री थी, वह अलिखित और मौखिक थी। जिसका

संग्रहण और विश्लेषण करने के लिए परंपरागत अध्ययन पद्धति से भिन्न नई तकनीक, प्रविधि का व्यवहार अनिवार्य हो गया। इन सबके अतिरिक्त लोक-साहित्य केंद्र, लोक-संस्कृति केंद्र स्थापित करके उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारतवर्ष में अकादमिक शोध कार्य को बढ़ावा दिया गया।

सबसे बड़ी बात यह है कि लोक- साहित्य के अध्ययन के जो भी प्रयास हुए वे न केवल सीमित थे बल्कि उन्हें आधार- सामग्री न मानकर या तो अतिवादी नजरिया अख्तियार किया गया या संकीर्णवादी सोच से उसका महिमामंडन किया गया। इससे लोक-साहित्य के अध्ययन की दिशा में कोई सार्थक परिणाम सामने नहीं आ पाया। लोकाध्ययन के प्रयास जिस देश, क्षेत्र में हुए वे उस समय की स्थितियों, मांगों की आवश्यकता मात्र थे। उदाहरण के लिए- पाश्चात्य देशों में लोकाध्ययन (विशेषकर यूरोपीय राष्ट्रों के परिप्रेक्ष्य में) राष्ट्रवाद को तीव्र करने में एवं उसकी जड़ों को मजबूत करने के लिए हुआ है। वहीं, दूसरी ओर अमेरिका में लोकाध्ययन अमेरिकी नीग्रो का अपने मूल अफ्रीकी जड़ों की तलाश मात्र था।

भारतीय संदर्भ में लोकाध्ययन की शुरूआत अंग्रेजों ने की। औपनिवेशिक-तंत्र को मजबूत करने के लिए यहाँ के लोगों की भाषा, रीति-रिवाज, धर्म, परंपराएँ सीखना अनिवार्य हो गया था। इसीलिए अंग्रेजों ने जिलेवार गजेटियर बनाये। भारतीय लोक-कथाओं के संकलन का प्रयास किया। अंग्रेजों की महजी आवश्यकता, केवल प्रशासन-तंत्र को मजबूत करना था, जिसमें उनके औपनिवेशिक हित छुपे हुए थे।

सन् 1940 के बाद लोक-साहित्य का अध्ययन ऐथेनो हिस्ट्री, एन्थ्रोपोलोजी, सोशियोलोजी और सांस्कृतिक-अध्ययन का हिस्सा तीव्र गति से बनता चला गया। लोक-साहित्य में समावेशन की व्यापकता है इसलिए लोक-साहित्य में मिथकों का रचनात्मक उपयोग हुआ है। ति ब्बत में एक मिथक प्रचलन में है। यह मिथक किन्नर समुदाय से संबंधित है। तिज्बती लोक मानस की मान्यता है कि-शुरूआती समाज में केवल दो वर्ग थे-स्त्री और पुरूष। मानव सभ्यता के विकास क्रम में किन्नर का उत्पन्न होना उन्हें अद्‌भुत और रहस्यमयी लगा। उन्होंने उसको समाज का हिस्सा मानते हए दुत्कारा नहीं।

माड़ी के वाचिक साहित्य में बांझ स्त्री और नपुंसक पुरुष के प्रति धिक्कार का भाव न होकर स्वीकार का भाव प्रतिबिम्बित हुआ है। बांझ स्त्री और नपुंसक

पुरुष के मरने के पश्चात उनकी समाधि पर दीया जलाने का भाव और अऊत गाने का प्रचलन है। जैसे-

अऊत का बाबाजी ने बाग लगायो
दादी लगायो पेड़ चार
अऊत बैठा छांवड़ी जी...
लहर-लहर चढ़ा करे जी...
केड झबूका लेय
ले अऊत बैठा छांवड़ी जी...
(श्रीमती चंदरी देवी से सुनकर लिपिबद्ध)

इस रूप में देखें तो पिछड़े हुए समाजों में समावेशन का भाव अधिक है। लोक की सजा, महजा सर्वसिद्ध है। गौतम बुद्ध लोकायन को महत्व देते थे। लोक की सजा व्यक्ति के लिए क्रूर और निर्मम भी हो सकती है। लेकिन इसका लाभ सामूहिक और सामुदायिक अधिक होता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण- राम के जीवन से जुड़ी हुई लोक कथा है उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ में विमर्शों का स्रोत लोक-साहित्य हो सकता है। इस रूप में परंपरागत या मौखिक रूप में आये हुए साहित्य का पुनर्मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है। जैसे-

'गीतन में गावै न,
रोजेजून में रावववे न।'

यह माड़ी की प्रचलित उक्ति है, जिसका आशय है कि- गीतों में जिन्हें याद नहीं किया गया, मरने के बाद जिन्हें याद नहीं किया गया। ऐसी दास्तान हैं– दलित, आदिवासी, स्त्री और पिछड़े हुए समाज (सामाजिक, शैक्षिक, राजनीतिक और आर्थिक आधार पर) का।

भारत में जो भी साहित्य इतिहास लेखन के कार्य हुए हैं वे एक आयामी एवं अधूर है। भारतीय साहित्य-लेखन के संदर्भ में लोक-साहित्य की उपेक्षा निश्चित तौर पर एक वास्तविकता है। भारतीय लोक-साहित्य का स्वर बहु-भाषिक और बहु-सांस्कृतिक राष्ट्र के मानस को समझने में मददगार हो सकता है। माड़ी के वाचिक साहित्य में हेराज्याल, सुड्डा, ढांचंचा, पहेलेली और रामजी के गीत विशिष्ट सांस्कृतिक लोक कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं। हेरा ज्याल में सामाजिक विद्रूपता, धार्मिक बाह्याडम्बर पर व्यंग्य किया जाता है। जैसे-

चिमटी ले ल बाबाजी।
तोपे खाओ कुमायो को जाय?

तातो सो पाणी,
साबुन की बट्टी।
मनकर न्हालै बाबाजी।
उड़द की दाड़
गेहूंन का फुल्का।
मनकर जैले बाबाजी।
तोपे खायो कुमायो को जाय?
चिमटी ले ल बाबाजी।
सोना की झारी,
गंगाजल पाणी।
मनकर पीले बाबाजी।
पचरंग सेज मोती,
झल्लर का तकिया।
मनकर सोवे बाबाजी।
चंदा की चांदनी में चौपड़ बिछाई ।
मनकर खेले बाबाजी।
बारह हजारों मोटर मंगाई ।
मनकर घूमें बाबाजी।
चिमटी ले ल बाबाजी।
तोपे खाओ कुमायो को जाय? (श्रीमती चंदरी देवी से सुनकर लिपिबद्ध)

वर्तमान लोक-साहित्य के अध्ययन के संदर्भ में सबसे बड़ी चुनौती है-लोक- साहित्य के दस्तावेजीकरण की। दूसरी चुनौती है उसके पाठ और मर्म को गाने और समझने वालों की पहचान करना। जैसे-लोक कथाओं का एक वर्ग 'मांडकर कही जाने वाली श्रेणी के अंतर्गत आता है। इस वर्ग में चार तरीके की लोक कथाएं होती हैं। स्त्री वर्ग, पुरूष वर्ग, बच्चों का वर्ग और उद्धरणात्मक लोक कथाएं।

इस रूप में देखें तो भीलों की कथाओं का चित्रांकन एक रात के अंतर्गत किया जाता है। भील समुदाय के लोग जो भी इस जीवन में देखते हैं उसे लोकायन की दृष्टि से सामूहिक रूप से एक रात के भीतर चित्रात्मक रूप में अंकित करते हैं। यह कथा कहने की शैली और दृश्य लोक- कला रूप का सामूहिक समायोजन है। इसकी पहचान भी होना लोक अध्येयता के लिए

आवश्यक है। भारत क्या है? नामक लेख में जस्टिस मार्कण्डेय काटजू ने भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक रूप और बहु-वैविध्य रूप को ग्रामीण भारत की पहचान से जोड़ा है। इसे देश की आंतरिक एवं मूल धारा माना है। माड़ी का सामासिक संस्कृति से संबंधित 'पठाण बाबा' का एक लोक गीत इस प्रकार से है-

चौकी चंदन बैठणी रे
दूध-पखाड्गी पांव
पठाणजी का बाज रियारे
निशाण
चावल रांदू बाबा उजड़ा रे.
बीजापुर को बाबा बीजणो रे
गढ़ मुथरा का बड़थाल र..
(श्रीमती परबाती देवी से सुनकर लिपिबद्ध)

आज भारत देश के सामने प्रधान समस्या सांप्रदायिकता की है। सांप्रदायिकता का जहर इस देश के मूलवासी बोड़ो और बांग्लादेश से आये शरणार्थियों के मध्य गंभीर जातीय वैमनस्य को जन्म दे चुका है। माड़ क्षेत्र में पठाण पर खिरोंडी चढ़ाने की प्रथा है, यह प्रथा सभी जातियों के लोगों के लिए स्वीकार्य है। इस रूप में ऐसे लोक महापुरुषों के जीवन संदेश को सभी भारतीयों तक पहुंचाने की जिम्मेदारी शिक्षित मध्य वर्ग की बनती है।

लोक-साहित्य के अध्ययन को विभिन्न विचारधाराओं के समन्वित रूप ने प्रभावित किया है। इस रूप में लोक- साहित्य जो पहले सामाजिक, जातीय, सांस्कृतिक सवालों से ज्यादा जूझता था अब उसके अध्ययन का कोण बदल चुका है। पहले लोक-साहित्य का अध्ययन रोमानी, मनोरंजक अधिक था। समय की गति, आधुनिकता के दबाव ने लोक- साहित्य के परंपरागत स्वरूप के सामने नये परिप्रेक्ष्य और संदर्भ उपस्थित कर दिये। उनसे जूझना भी लोक-साहित्य के लिए अनिवार्य हो गया। अब लोक-साहित्य आर्थिक, राजनीतिक, इतिहास और सांस्कृतिक-अध्ययन के सवालों से अधिक जुड़कर अंतः अनुशासनिक हो गया है। आर्थिक और सामाजिक इतिहास में आये बदलाव को व्यक्त करने वाले माड़ी के दो लोक गीत प्रस्तुत हैं–

आ री गुरगली सासरा चला।
आ री गुरगली सासरा चलां ।

घाघरो नहीं, लुगड़ी नहीं,
(आर्थिक स्थिति से संबंधित)
(कुमारी निशा महावर से सुनकर लिपिबद्ध)
भोड़ी जच्चा तैने जुल्म करि
अंगरेजी जापा शुरू किरा रे
तैन दाई कू बुलाबी बंद किरी
तैने नर्स कू बुलाबो शुरू किरो रे ।
तैने सास कू बुलाबी बंद किरो
तैन माई कू बुलाबो शुरू किरी रे
तैनी नणद कू बुलाबो बंद किरी
तैने बहन कू बुलाबो शुरू किरो रे
भीड़ी जच्चा तैने जुल्म करि
अंगरेजी जापा शुरू किरो रे
(श्रीमती कमलीबाई बेरवा से सुनकर लिपिबद्ध)

उपरोक्त दूसरे लोकगीत में भारत में अंग्रेजों के आने के पश्चात आधुनिकता का प्रसार विद्वानों का एक वर्ग मानता है। इस आधुनिकता ने परंपरागत सामूहिकता की भावना, सामुदायिकता के भाव और संयुक्त परिवारों के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। परंपरागत पेशों से जुड़े हुए तबके के काम छीन गए। स्वास्थ संबंधी प्रसूति सुरक्षा अभियान से संबंधित उपरोक्त गीत में लोक इतिहास, समाज और स्वास्थ्य का संदर्भ देखा जा सकता है

मुल्क राज आनंद और ए. के. रामानुजन का विचार है कि लोक का ज्ञान जरूर सीमित होता है, लेकिन उसकी मेधा उसकी बोली और भाषा में अपने जीवनानुभव से अकादमिक वर्ग के लिए चुनौती बनी हुई है। क्या हबीब तनवीर, यू.आर. अनंतमूर्ति, के. सच्चिदानंदन और विजयदान देथा का लोक साहित्यिक लेखन, लोक-साहित्य के विकास में कुछ जोड़ पाता है? क्या इसका मूल्यांकन लोकदृष्टि, लोकायन के आधार पर करना जरूरी नहीं लगता?

लोक-साहित्य का अध्ययन राष्ट्रवाद के विकास में कैसे किया जा सकता है? ऐसे सवाल निश्चित ही संवाद के प्रस्थान बिंदु बनकर उपस्थित होते हैं। क्या हमें लोक-साहित्य के अध्ययन के लिए सर्वसमावेशी विचार दृष्टि की आवश्यकता नहीं है?

लोक-साहित्य के अध्ययन क्रम में नई ऐथेनो हिस्टोरिकल (जातीय ऐतिहासिक) विधि का व्यवहार करना अपेक्षित लगता है। लोगों की कहानी, लोगों का इतिहास, लोगों की जुबानी को सुनकर उसका विश्लेषण और विवेचन करना जरूरी लगता है। अंग्रेजों ने अनेक जातीय समुदायों को अपराधी, चोर, डाकू, लुटेरा, असामाजिक कानूनी तौर पर घोषित कर दिया था। क्या ऐसे जनसमुदाय वास्तव में स्वाधीन चेतना और स्वतंत्रता के आकांक्षी थे या अंग्रेजों की नीति के शिकार ? लोक- साहित्य का फलक व्यापक है। उसमें किसान के लगान भरने के चित्र विदर्भ में आत्महत्या करते किसानों के वर्तमान जीवन से जुड़ जाते हैं। जैसे-

बारह महीना तैनं करि नौकरी
खोटी रुपयो लायो
नपूता और ला रे।

बारह महीना मैंने चरखी कात्यो
बारह-बीस कुमायो
दस की लाई मीठ-बाजरी
दस की लाई तल्ली
नपूता खेती कर रे।

अगल बगल में बोयो बाजरो
बीच में बो दी तल्ली
नपूता अँया बो रे।

औरों के नपजो मोंठ-बाजरी
मारूजी कै पड़ गियो टो-टो
नपूता भेज भर रे

औरन तो भर दी भेज बाबड़ी
मारूजी कू ले गिया पकड़ के
नपूता जावड़ रे।

चढ़ डागडिया देखण लागी
मारूजी के पड़ रिया सांटा रे
नपूता और दे रे।

अंगड़ी भी बेची मैंने बंगड़ी भी बेची
मारूजी कू लाई छुड़ा के
नपूता घर चल रे
घर चल रे
हारी जान का जड़ावा घर चल रे

ऊणे बिठाणे मैंने कुणे बिठाणे
देवड़ी पे लार दची के रे
नपूता तू न टक रे
ज्हारी जान का जड़ावा
तू न टक रे।(श्रीमती तुलसादेवी से सुनकर लिपिबद्ध)

भारतीय समाज व्यवस्था के आधार तत्त्व चार हैं–

1. प्रजातीयता,
2. वर्ण,
3. जाति और
4. वर्ग।

इस रूप में देखें तो भारतीय समाज व्यवस्था की बहुस्तरीयता सामने आती है। माडी के वाचिक साहित्य में खेल संबंधी एक लोकगीत इस संदर्भ में देखा जा सकता है जिसमें जाति और श्रेष्ठता की वर्गीयता पर व्यंग्य किया गया है, जैसे–

ऊपर ऊपर राजो
नीचे-नीचे भंगी राजो रिजाई की
गू खाये बिलाई को।
(राजेश महावर से सुनकर लिपिबद्ध)

उपरोक्त लोकगीत का संदर्भ-बाल-खेल है। इस बाल-खेल में सवर्ण मानसिकता से युक्त बच्चा कहता है कि मैं राजा हूं, और श्रेष्ठ हूं। तुम समाज के सबसे निचले पायदान पर हो इसीलिए तुम सबसे कमतर हो। इसके जवाब

में मेहतर जाति का बच्चा कहता है कि-तुम तो केवल लुगदी मात्र हो, अर्थात् कपास मात्र हो, एक फूक में ही फुर्र हो जाओगे। तुम तो कोई मेहनत नहीं करते हो, तुम तो बिल्ली का अवशिष्ट (गू) खा कर जीवित हो। इस लोकगीत में प्रतिरोध का भाव, वर्गीय दृष्टि, वर्णीय और जातीय भाव को देखा जा सकता है। और यह भी देखा जा सकता है कि जो भी श्रमशील तबका है वह आर्थिक रूप, सामाजिक रूप से हाशिये पर है और जो तबका चालाकी, धृष्टता और अहंकार से युक्त है वह समाज के सबसे ऊंचे पायदान पर है। 'माड़ी' के एक बाल लोकगीत में इतिहास और सांस्कृतिक समावेशन का चित्र देखा जा सकता है जैसे-

आंधी आयो मह आया
गगन घटा
बीबनी के छौर्यो होयो
घूघरी बटा।

उपरोक्त बाल लोकगीत में बीबनी के पुत्र होने पर घूघरी (गेहूं, चने को उबालकर बांटने की प्रथा) बांटने की बात की गई है। इस रूप में भारतीय समाज व्यवस्था में मुगलों के आगमन के पश्चात दो समाजों के मध्य पनपे सांस्कृतिक वातावरण की छवि का निर्माण हुआ। राजस्थान में आंधी आना, मेह (बरसात) के लिए तरसना और आकाश में छाई घटा को निहारना निश्चित ही भौगोलिक स्थिति की वास्तविकता को व्यक्त करता है।

लोक-साहित्य का दस्तावेजीकरण, वर्गीकरण, उसकी समकालीन जीवन संदर्भ में महत्ता और शब्द-संग्रह करते हुए शब्दकोष निर्माण पर बल दिया जाना आज की आवश्यकता है। लोक-साहित्य के अध्ययन की परंपरा का विधिवत और अनुशासन के रूप में अध्ययन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ।

पश्चिम में राष्ट्रवाद को मजबूत करने के क्रम में और लोकतंत्र में लोक या सामान्य जन की महत्ता की पड़ताल के लिए लोक-साहित्य के अध्ययन का सिलसिला आगे बढ़ा। भारत में उत्तर आधुनिक लोक, आधुनिक लोक, ग्रामीण लोक और आदिम लोक की दुनिया एक साथ उपस्थित है। इस रूप में भारत लोक-साहित्य की दृष्टि से सबसे संभावनाशील और संपदाशील राष्ट्र है।

भारत के उत्तर पूर्व के राज्यों में अरूणाचल प्रदेश में 66 भाषाओं तथा बोलियों का व्यवहार होता है। इस रूप में भारत देश बहु-भाषाई आधार पर धान्यागार है। यह बहु-भाषिकता, लोक-साहित्य की रीढ़ है। माड़ी का सवाल

(माड़ क्षेत्र की भाषा, राजस्थान के सवाई माधोपुर जिले के अंतर्गत) भी इस लोक-साहित्य के अध्ययन का हिस्सा बनना चाहिए। लोक-साहित्य के पाठ्यक्रम को विद्यालयी स्तर से उच्च शिक्षा के स्तर तक अनिवार्य बनाया जाना चाहिए। जैसे-नाटक और रंगमंच के संबंध में शिक्षा मंत्रालय द्वारा लिया गया निर्णय। भारत के ज्ञान आयोग को लोक-साहित्य को अनुवाद से जोड़ कर विशेष पहल करनी चाहिए।

❐❐❐